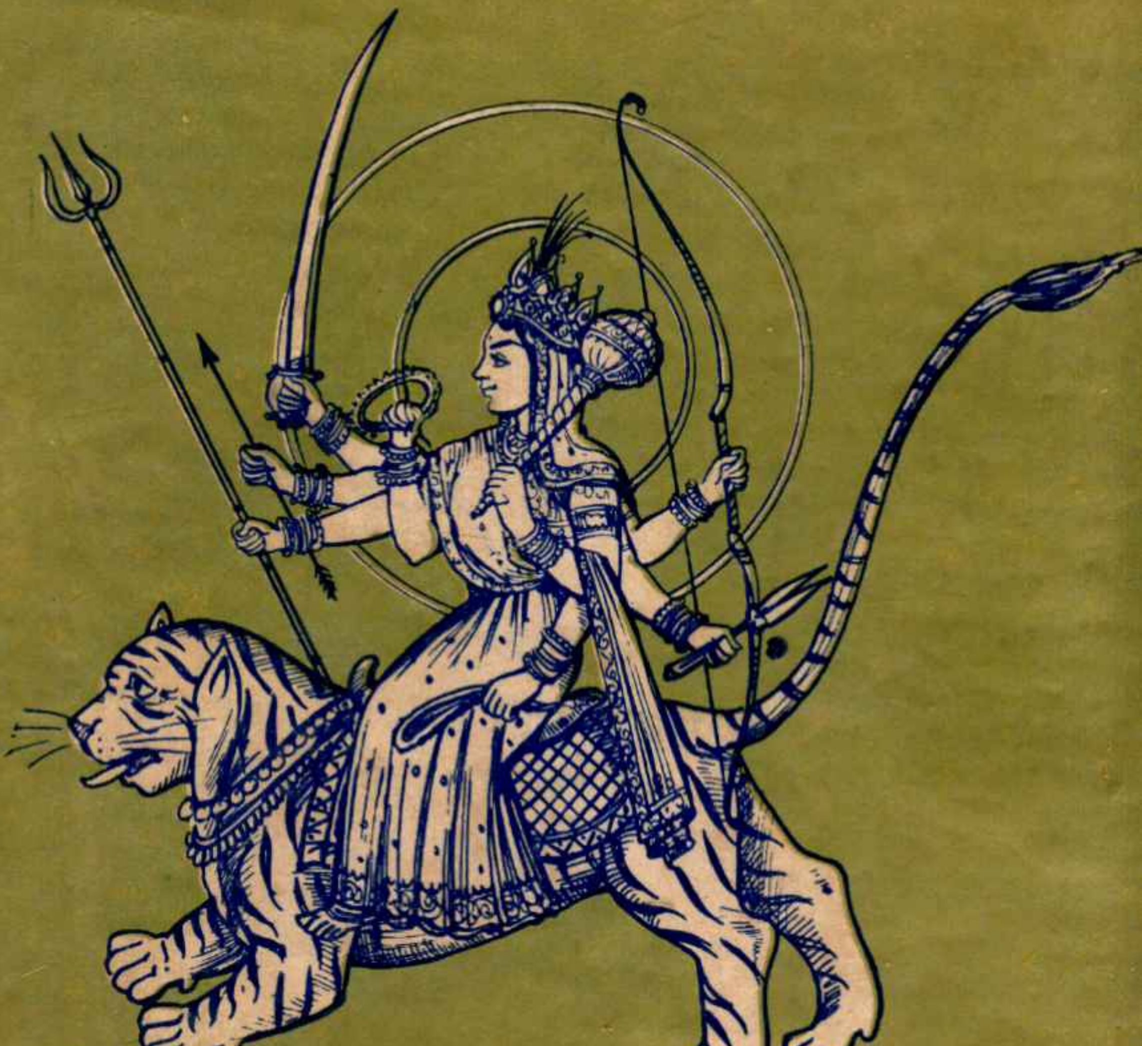
सौन्दर्य लहरी



प्रकाशक :

डा. चमनलाल गौतम

संस्कृति संस्थान

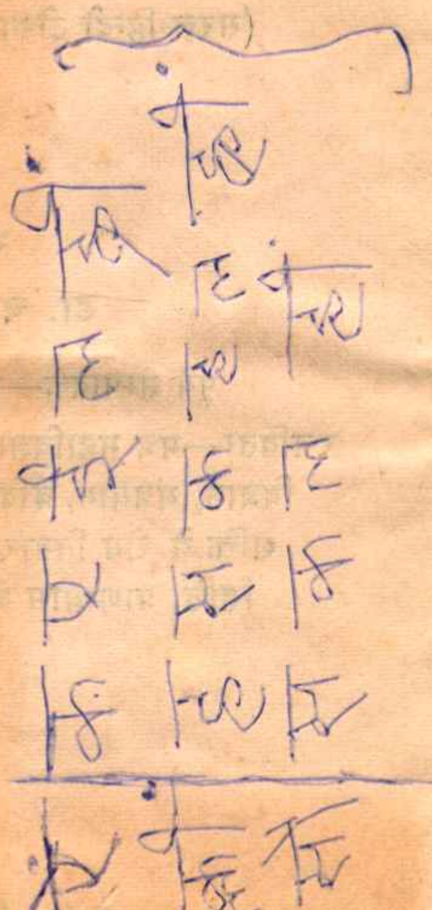
ख्वाजा कुतुब, (वेद नगर) बरेली—२४३००१

*

भाष्यकार :

डा. चमनलाल गौतम

*



प्रथम संस्करण

१९७४

*

मूल्य : चार रुपया पिचहत्तर पैसा

*

मुद्रक :

विश्वभारती प्रेस,

मथुरा

भूमिका

'सौन्दर्यलहरी' नामक यह ग्रन्थ जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीमद् भगवत्पाद की रचना है, जिसमें आदि शक्ति माया और शुद्ध विद्या का सार गर्भित वर्णन है। यह एक तान्त्रिक ग्रन्थ माना जाता है। इसके दो खण्ड समझे जाते हैं—आनन्द लहरी और सौन्दर्य लहरी, उन दोनों को एकत्र करके सौन्दर्य लहरी नाम ही दिया गया है।

आनन्दलहरी के ४१ और सौन्दर्य लहरी के ६२ श्लोकों को मिला कर कुल १०३ श्लोक हैं। आनन्दलहरी से अध्यात्म और सौंदर्यलहरी से भौतिक विराट् पक्ष समझना चाहिए। ब्रह्म की सत्-शक्ति से भौतिक सृष्टि और सत्-चित् शक्ति से चेतन जगत् की प्रतीति होती है। ब्रह्म के आनन्द स्वरूप से सत्-शक्ति में सौन्दर्य का और सत्चित् शक्ति में आत्मानन्द का भाव जाग्रत् होता है।

ब्रह्म की शक्ति ही शिवा है, शिव-शिवा में कोई भेद नहीं। इसलिए शिवा की महिमा के गुणगान में शिव का ही गुणगान निहित है। शक्ति की आराधना का तात्पर्य ब्रह्म की आराधना ही है, क्योंकि शक्ति का अस्तित्व शक्तिमान् के अस्तित्व से पृथक् नहीं हो सकता। 'पुंलिगं सर्वमीशानं स्त्रीलिगं भवत्युमा' (रु. हृ. उ.) अर्थात् 'सृष्टि में जो कुछ पुल्लिग रूप है, वह सब शिव और स्त्रीलिंग है, वह सब उमा है।' इसका अभिप्राय यही है कि शिव शिवा में लिंगभेद मात्र का ही भेद है, और कोई भेद नहीं है।

भगवती के इस स्तोत्र से साधकों के हृदयों में अत्यंत सुख-शान्ति, अपूर्व तेज और परम ज्ञान की प्राप्ति होती है। भगवती

के प्रकाश से यह सम्पूर्ण चराचर जगत् प्रकाशित होरहा है। उन्हीं का स्तोत्र रूप एवं परम रहस्मय यह ज्ञान स्तोता का श्रेय-साधन रूप से उपलब्ध है। भगवती की उपासना यन्त्र, तन्त्र मन्त्रों के द्वारा जैसे बाह्यरूप में की जाती है, वैसे ही शरीरस्थ आभ्यन्तरिक षट्चक्रों और इडा, पिंगला, सुषुम्नादि नाड़ियों में भी दिव्य-शक्ति-केन्द्रों के आश्रय से योग पद्धति द्वारा की जा सकती है। उसमें शरीर को ही श्रीयन्त्र मान कर मन्त्रयोग से कुण्ठलिनी शक्ति को जगा कर और उसका उत्थान करके सुषुम्ना नाडी के मार्ग से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त आरोह-अवरोह किया जाता है।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों की रचना तात्विकरूप से एक समान है। सृष्टि-रचना के वर्णन में ऐतरेय उपनिषद् का कथन है कि 'सृष्टि से पूर्व एकमात्र ब्रह्म ही था। उसने सर्ग-रचना की इच्छा की और स्वर्गादि ऊर्ध्वलोक, अन्तरिक्ष, मर्त्यलोक एवं जल आदि की रचना की। स्वर्ग से भी ऊपर के लोक, उनके आश्रय स्थान और लोकपालों रचा तथा जल से ज्योतिर्मय पुरुष को प्रकट किया। उसे देख कर परमात्मा ने जो तप किया उससे तेजस्विता को प्राप्त हुए शरीर से अण्डे के समान उत्पन्न हुआ जिसमें मुख का छिद्र बना, मुख से वाक्-इन्द्रिय हुई और वाक् से अग्नि का प्राकट्य हुआ। फिर दो छिद्र वाली नासिका और उससे प्राण की उत्पत्ति हुई। प्राण से वायु और नेत्र-गोलक बने, उनमें चक्षु उत्पन्न हुए और चक्षु से सूर्य की उत्पत्ति हुई। फिर कानों के छेद बने, उनमें सुनने की शक्ति हुई। श्रवणेन्द्रिय से दिशाएँ हुई फिर त्वचा, त्वचा से रोम, रोमों से औषधियाँ हुईं। फिर हृदय हुआ, हृदय से मन और मन से चन्द्रमा हुआ। फिर नाभि हुई, नाभि से अपान और अपान से मृत्यु देवता प्रकट हुए। तत्पश्चात् उपस्थ उपस्थ से रेत और रेत से जल उत्पन्न हुआ।

ऐतरेय उपनिषद् में ही यह भी वर्णन है कि परमात्मा द्वारा उत्पन्न हुए देवता इस विशाल समुद्र में आपड़े। तब परमात्मा ने उनमें भूख-प्यास की अनुभूति उत्पन्न की। इस पर उन्होंने परमात्मा से कहा कि हमारे लिए ऐसे शरीर की रचना करो, जिसमें रह कर हम अन्न आदि खा सकें। परमात्मा ने उन्हें गौ का शरीर बनाकर दिखाया तो देवताओं ने कहा कि यह हमारे उपयुक्त नहीं। तब उन्हें अश्व का शरीर बनाकर दिखाया गया तो वे बोले कि यह भी ठीक नहीं है। तब परमात्मा ने मनुष्य-शरीर बनाकर दिखाया, जिसे देखकर देवताओं ने कहा कि यह अत्यन्त सुन्दर रचना हुई है। यह सुनकर परमात्मा बोले कि अपने-अपने योग्य स्थानों में घुस जाओ। तब अग्नि ने वाणी बन कर मुख में और वायु ने प्राण बन कर नासिका में प्रवेश किया। सूर्य चक्षु बन कर नेत्र गोलकों में घुसे और दिशाएँ श्रोत्र बन कर कानों में प्रविष्ट होगईं। औषध रोग बनकर त्वचा में घुसीं, चन्द्रमा मन बन कर हृदय में प्रतिष्ठित होगया। मृत्यु अपान बन कर नाभि में घुसी और जल देह बन कर उपस्थ में स्थित होगया।

उक्त उद्धरण यह प्रकट करने के लिए बहुत हैं कि सृष्टि के स्वस्थ संचालनार्थ उत्पन्न की गई शक्तियों में और मनुष्य शरीर में रहने वाली शक्तियों में समानता है। इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों में एक जैसी शक्तियाँ विद्यमान हैं। अन्तर है तो यही कि पिण्ड छोटा और ब्रह्माण्ड बड़ा है। इसलिए पिण्ड को ब्रह्माण्ड का ही संक्षिप्त नमूना (Model) समझना चाहिए।

योगपद्धति के अनुसार कुण्डलिनी, मन, प्राण, नाद और बिन्दु के ज्ञान से ब्रह्माण्ड के सभी तत्वों का ज्ञान संभव है। मूलाधार चक्र में विद्यमान कुण्डलिनी शक्ति महामाया है, उसके संवित् स्वरूप को शुद्ध विद्या कहते हैं। उसी के परा,

सीमित असीम.

पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी के रूप में प्रकट होने पर मंत्रात्मक जगत् की सृष्टि होती है। यथा—

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तांवेत्ति स वेदवित् ॥

—योगचूड़ामण्युपनिषत्

अर्थात्—प्राणधारिणी गायत्री का उत्पत्ति केन्द्र कुण्डलिनी ही है। इस गायत्री को ही प्राणविद्या और महाविद्या कहते हैं। जो इस विद्या को जानते हैं, वही वेदज्ञ कहलाते हैं।

इस प्रकार सौन्दर्य लहरी में योगपद्धति के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत् करके ब्रह्म-प्राप्ति का निर्देश निहित है। इसमें काव्यालंकारों के रूप में जो रहस्य छिपा है, वह तत्वार्थ, योगार्थ और मन्त्रार्थ से सम्पन्न है। उसे समझने के लिए विवेक बुद्धि की आवश्यकता होती है। श्लोकों में जो श्रेष्ठ उद्गार भरे पड़े हैं, उनका ज्ञान शब्दार्थ से होना संभव नहीं, जब तक कि उनके रहस्य को भले प्रकार समझने का प्रयत्न न किया जाय।

आदि शंकराचार्य श्रीमद्भगवत्पाद विवर्तवाद के प्रवर्तक थे तो वे परिणामवाद के समर्थक कैसे हो सकते थे? ऐसी शंका अनेक लोग किया करते हैं। परन्तु, ब्रह्मसूत्र के भाष्य में स्वयं भगवत्पाद ने ही उक्त शंका का समाधान करते हुए स्पष्ट कह दिया है कि 'परिणामवाद का आश्रय कार्यप्रपंच की सिद्धि के उद्देश्य से नहीं, वरन् सगुण उपासना के उपयोग के लिए ही लेना पड़ा है।' इसका अभिप्राय है कि उस समय जन-साधारण को निर्गुण उपासना की ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से पहले सगुण उपासना की ओर भी आकर्षित करना आवश्यक होगया था।

ज्ञान-प्राप्ति के लिए योगाभ्यास की आवश्यकता स्वीकार की जाती है। योगाभ्यास से ही विषयों के प्रति वैराग्य हो,

सकता है। गीता में श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते' अर्थात् 'अभ्यास से और वैराग्य से मन को वश में किया जा सकता है।' योगदर्शन में भी 'अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः' कहने से भी गीता के उक्त वाक्य की ही पुष्टि हुई है।

परन्तु आजकल कुछ विद्वान् महावाक्यों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन मात्र को ही प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति में पर्याप्त साधन मानते हैं। अनेक वेदान्तवादी भी योग और उपासना को ज्ञान का साधन न मानकर उनकी अवहेलना करते और उसमें समय नष्ट करना व्यर्थ बताते हैं। परन्तु अनुभवी विज्ञों के अनुसार जिनके कषाय परिपक्व हो चुके हैं, वे ही साधक श्रवण, मनन और निदिध्यासन के अधिकारी हैं और कषायों का परिपक्व होना योग और उपासना के बिना संभव नहीं है।

इसीलिए योग और उपासना के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। तपस्या के बिना ज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती और योग एवं उपासना तपस्या के ही अंग हैं। उन्हीं के द्वारा अविद्या रूपी बन्धनों को शिथिल किया जा सकता है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन से पूर्व 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि (बृहदारण्यक श्रुति) के अनुसार आत्मा का दर्शन होना चाहिए। क्योंकि जब तक आत्म-दर्शन नहीं होगा, तब तक साधना का मार्ग भी प्रशस्त नहीं हो सकता।

योग और उपासना में से एक के न करने से भी कार्य नहीं चलता। योग जिस तपस्या को कहते हैं, वह उपासना के बिना पूरी नहीं हो सकती। जहां उपास्य अर्थात् लक्ष्य नहीं, वहाँ उपासना नहीं, तो उपास्य की उपासना से रहित योग से भी कोई लाभ नहीं। एक-दूसरे के बिना दोनों क्रियाएं अधूरी रहती हैं। इसलिए उपासकों को योगाभ्यास में भी प्रयत्नशील होना

चाहिए। इसीलिए आचार्य भगवत्पाद ने इस ग्रन्थ में कुण्डलिनी योग की प्रधानता दिखाकर योग और उपासना की एकता का प्रत्यक्ष रूप से प्रतिपादन किया है।

सौन्दर्यलहरी में वर्णित श्रीविद्या का ज्ञान साधारण मनुष्यों को नहीं हो सकता। संस्कृत में होने के कारण संस्कृत न जानने वालों के लिए यह वैसे भी सुलभ नहीं, इस दृष्टि से प्रस्तुत भाष्य उनके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। इसीलिए इसमें श्रुतियों, पुराणों, दर्शन-सूत्रों, उपनिषदों और स्मृतियों आदि के उद्धरण और उनके सरल अर्थ देकर जनसाधारण के लिए पूर्ण उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है।

ग्रन्थ अत्यन्त गूढ़ है। इसे जन साधारण के लिए सरल-सुबोध बनाने के उद्देश्य से यह ध्यान रखा गया है। अनुवाद की भाषा क्लिष्ट न हो पाये। इसकी व्याख्या (भाष्य) के लेखन कार्य में मथुरा के उत्कृष्ट विद्वान् कविराज दाऊदयाल गुप्त ने प्रशंसनीय सहयोग प्रदान किया है, इसलिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

हमें विश्वास है कि हमारे इस प्रयत्न से जनसाधारण ही नहीं, वरन् संस्कृत-प्रेमी विद्वान् भी लाभान्वित होंगे और तभी हमारे प्रयत्न की सफलता सिद्ध होगी।

—डा० चमनलाल गौतम

ॐ

सौन्दर्य लहरी

पूर्वार्द्ध आनन्द लहरी

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरंचादिभिरपि
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति ॥१॥

टीका—(हे देवि !) यदि शक्ति से सम्पन्न होकर ही शिवजी सृष्टि-रचना में समर्थ होते हैं, क्योंकि ऐसा न होने पर वह देव स्पन्दित होने के योग्य भी नहीं थे। अतएव आप विष्णु, शिव और ब्रह्मा आदि की भी आराध्या को प्रणाम या स्तुति करने की किसी पुण्य न करनेवाले पुरुष में सामर्थ्य कैसे हो सकती है ? ॥१॥

व्याख्या—यद्यपि ब्रह्म अव्यय, अविनाशी, अपरिणामी, अक्षर अव्यक्त है और साथ ही जगत् प्रपंच के सृष्टि, स्थिति और संहार का निमित्त एवं उपादान कारण भी है, इसीलिए उसे सर्व शक्ति भी क्या कभी उससे भिन्न या पृथक् हो सकती है ?

शक्तिमान् के सभी कर्म शक्ति की ही क्रिया से सम्पादित होते हैं। यद्यपि सृष्टि, स्थिति और संहार का सम्पूर्ण कार्य शक्ति

ही करती है, फिर भी वह सदैव शक्तिमान् के अधीन रहती है। वही उसकी इच्छा है, क्योंकि उसका उदय सर्वशक्तिमान् की इच्छा से ही होता है। तत्पश्चात् वह क्रिया और ज्ञान का रूप धारण करती है। इस प्रकार एक ही शक्ति इच्छा, क्रिया और ज्ञान (अथवा साक्षात् शक्ति) के रूपों में अभिव्यक्त होती है। यथा—'सा देवी त्रिविधा भवति शक्त्यात्मना इच्छाशक्तिः क्रिया शक्तिः साक्षाच्छक्तिरिति।' रुद्रहृदयोपनिषत् के अनुसार—

ब्रह्मविष्णुमयो रुद्र अग्नीषोमात्मकं जगत्।
पुंलिगं सर्वमीशानं स्त्रीलिंगं भवत्युमा॥
उमारुद्रात्मिकाः सर्वाः प्रजाः स्थावरजंगमाः।
व्यक्तं सर्वमुमारूपमव्यक्तं तु महेश्वरम्॥

अर्थात्—रुद्र ही ब्रह्मा-विष्णु रूप हैं, यह अग्निसोमात्मक विश्व भी रुद्र ही है। विश्व के सभी पुल्लिगरूप जीव शिव और स्त्रीलिंग रूप जीव उमा हैं। इस प्रकार स्थावर जंगमरूप यह सम्पूर्ण सृष्टि रुद्र और उमा रूप ही है। अव्यक्त संसार रुद्र रूप और व्यक्त संसार उमारूप है।

देव्युपनिषद् में प्रसंग है कि सब देवताओं ने देवी के पास जाकर पूछा—'महादेवि ! आप कौन हैं ?' देवी ने उत्तर दिया कि 'मैं ब्रह्मस्वरूपणी हूँ। यह कार्य-कारणरूप प्रकृति-पुरुषात्मक विश्व मुझसे ही उत्पन्न हुआ है। मैं आनन्द और अनानन्दरूपणी, विज्ञान-अविज्ञानमयी, ब्रह्ममयी और ब्रह्म से परे भी हूँ। मैं ही पंचीकृत-अपंचीकृत पंच महाभूत हूँ। यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् मैं ही हूँ।'

शास्त्रकारों ने इस शक्तितत्व का विश्लेषण करते हुए कहा है—

यथेदं भ्राम्यते विश्वं योगिभिर्या विचिन्त्यते ।
यद्भासा भासते विश्वं सैका दुर्गा जगन्मयी ॥

अर्थात्—जिससे यह संसार-चक्र कहलाता है, योगिजन जिस का सदैव चिन्तन करते हैं और जिसके प्रकाश से यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित होरहा है, वह विश्व-व्यापी दुर्गातत्व ही है ।

इस प्रकार शक्ति-तत्व के बिना शिव कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। क्योंकि वही पराशक्ति है । 'सैषा शाम्भवी विद्या कादि-विद्येति वा हादिविद्येति वा सादि विद्येति वा' इत्यादि के अनुसार वही शाम्भवी विद्या, वही कादि विद्या, वही हादि विद्या और वही सादि विद्या है । शिव 'हं' वाच्य और शक्ति 'सः' वाच्य होने से 'आनन्द लहरी' के इस प्रथम श्लोक से 'हंसः' मन्त्र की सिद्धि होती है, जिसका उल्टा 'सोऽहं' होता है । यदि 'सोऽहं' शब्द से 'स' और 'ह' को निकाल दें तो ओ३म् शेष रहेगा । यह ओ३म् निर्गुण ब्रह्म-वाचक, 'सोऽहं' ब्रह्म-आत्म ऐक्य वाचक और 'हंस' जीव वाचक है । 'ह' और 'स' दोनों अक्षर हादि विद्या के प्रारम्भ के होने से 'आनन्द लहरी' पद से श्रीविद्या का संकेत मिलता है ।

'ह' और 'स' के योग से बनता है ह्सौ बीजमन्त्र, जिसे प्रेतबीज भी कहते हैं । प्रेत (प्र + इत) का अर्थ है प्रकर्ष रूप से गया हुआ । इसमें शिव और शक्ति दोनों को ही महासुप्ति अवस्था में प्रदर्शित किया गया है । इसी प्रकार मूलविद्या का छटा अक्षर 'ह' शिव बीज, सातवाँ 'स' शक्तिबीज, वह्नि-सारथि अर्थात् 'क' कामेश बीज और शिवसम्पुटित शक्तिबीज है । इसलिए इस आदि विद्या के 'ह-स-क' यह तीन मूलाक्षर वाणी के पांसु रूप में जप करते हुए शब्द-स्पर्श-रहित कालदर्शी सर्वज्ञ को अपने अतिरिक्त अन्य कुछ न जान कर व्यष्टि-समष्टिरूप प्रपंच कल्पक या

अपने अतिरिक्त जीव, शिव, तत्कल्पनीय, व्यष्टि-समष्टि प्रपंच समूह नहीं है, यह जानते हुए योगी अमृतत्व को प्राप्त होजाता है।

शास्त्रों के अनुसार सर्ग-रचना का कार्य ब्रह्मा द्वारा होता है और शिव का कार्य संहार अर्थात् प्रलय करना है। परन्तु उक्त श्लोक में शिव ही सर्ग का आरम्भ करते हैं। इस कथन से 'हर' शब्द को यहाँ ब्रह्मवाचक ही समझना चाहिए। 'रुद्रोपनिषत्' में भी 'स बाहुभ्यां नमति स पतौर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एक:' अर्थात् 'वह एकमात्र देव ही पृथिवी-आकाश को हाथों से उत्पन्न करता है' कह कर शिवरूप ब्रह्म द्वारा ही सृष्टि-रचना करने वाला माना है।

इससे यह भी सिद्ध हुआ कि सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मा और शिव में कोई भेद नहीं। श्रुति-स्मृति आदि में भी 'अथ नित्यो नारायण: ब्रह्मा नारायण: शिवश्च नारायण:' इत्यादि कह कर सब कुछ नारायणात्मक बताया है। इससे समझना चाहिए कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि सभी नाम उस एक ही ब्रह्म के हैं। क्योंकि नारायणोपनिषत् के अनुसार 'नारायण एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। निष्कलंको निरंजनो निर्विकल्पो निराख्यात: शुद्धां देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्।' अर्थात् जो कुछ उत्पन्न हुआ और जो उत्पन्न होगा वह सब नारायणरूप ही है। नारायण निष्कलंक, निरंजन, निर्विकल्प निराख्यात (अवर्णनीय) और एक ही शुद्ध देव हैं, इनके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। इस प्रकार नारायण का यह उपाख्यान ब्रह्म का ही उपाख्यान है और इसी से यह सिद्ध होता है कि वही सर्वशक्तिमान् इस दृश्य प्रपंच का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों ही है।

श्रुति के अनुसार सृष्टि से पूर्व सत्-असत् कुछ भी नहीं था पृथिवी, आकाश नहीं थे, तो कौन कहाँ रहता था ?

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत् ।
किमावरीवः कुहः कस्य कर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥

ऋग्वेद ८।७।१०।१२६

इसी प्रसंग में आगे कहा है कि उस ब्रह्म ने सर्व प्रथम सृष्टि रचना की इच्छा की, जिससे सबसे पहले बीज का प्राकट्य हुआ मेधावियों ने अपनी बुद्धि से विचार करके अप्रकट वस्तु से प्रकट वस्तु का उत्पन्न हुआ कल्पित किया। तत्पश्चात् बीज धारणकर्त्ता पुरुष और महिमाएं प्रकट हुई। वे महिमाएँ क्या थीं ? शक्ति का या माया का प्रादुर्भाव ही तो था।

तन्त्राचार्य भास्करराय ने वरिवस्था रहस्य में कहा है–

स्फुरणन्वीयज्ञानमेव प्रकाशमिधंब्रह्म। तच्च सर्वज्ञत्व सर्वेश्वरत्व सवकर्तृत्व पूर्णत्वव्यापकत्वादि शक्ति संवलितम्। तस्य चानन्दरूपांश एव स्फुरणं पराहन्ता विमर्शः परालालिताभट्टारिका त्रिपुर सुन्दरी त्यादिपदैः व्यवह्रियेत।

अर्थात्—स्फुरण के अन्वय वाला ज्ञान ही प्रकाश संज्ञक ब्रह्म है। वह सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, कर्तृत्व, पूर्ण और व्यापक आदि शक्तियों से संवलित होता है। उसका आनन्दरूप अंश ही स्फुरण को प्राप्त होता है, वही पराहन्ता है। वही परालालिता, भट्टारिका, त्रिपुरसुन्दरी आदि पदों के द्वारा व्यवहार किया जाता है।

त्रिपुरसुन्दरी क्या है ? आदि इच्छा शक्ति ही तो। इच्छा का संकल्पात्मक कार्य मन होता है। संकल्प एक महान शक्ति है। इसके चमत्कार सर्वत्र दिखाई देते हैं। इसी के बल पर सर्ग-रचना जैसा महानतम कार्य सम्पन्न हुआ। ऐतरेयोपनिषत् के अनुसार—

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत्किंचन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥

सृष्टि से पूर्व एकमात्र ब्रह्म ही था, अन्य कोई भी नहीं था। उस ब्रह्म ने लोक-रचना की इच्छा की। उसने स्वर्गादि उच्च-लोक, अन्तरिक्ष, मर्त्यलोक और जल आदि की रचना की। स्वर्ग से ऊपर के लोक और उनका आश्रय स्थान द्युलोक अम्भ और अन्तरिक्ष मरीचि है। यह पृथिवी मर्त्यलोक के नाम से और नीचे के सब लोक जल के नाम से प्रसिद्ध हुए। लोक-रचना के पश्चात् उन्होंने लोक-रचना की इच्छा की और जल से ज्योतिर्मय पुरुष प्रकट किया। उस ज्योतिर्मय पुरुष को देखकर उस परमेश्वर ने तप किया और उनके तप से तेजस्वी हुए शरीर से अण्ड हुआ, उसमें मुख का छिद्र बना। मुख से वागेन्द्रिय और उससे अग्नि का प्राकट्य हुआ। फिर दो छिद्र युक्त नासिका और उससे प्राण की उत्पत्ति हुई। प्राण से वायु, नेत्रछिद्र और फिर चक्षु हुए। चक्षु से सूर्य की उत्पत्ति हुई। फिर कर्णछिद्र बनकर उनमें सुनने की शक्ति हुई—इत्यादि।

इस प्रकार संकल्प से सभी शक्तियाँ जाग्रत होजाती हैं। संकल्प के साथ 'मैं' का स्फुरण सत् और संकल्प का कार्य नामरूपात्मक जगत् असत् है। इन्हीं को सद्विद्या भी कहा गया है।

इच्छा के पश्चात् ज्ञान-शक्ति आवश्यक है। ज्ञान को ही विद्या कहते हैं। ज्ञान या विद्या के बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। अनेक विद्वान् उपनिषद् का अर्थ भी विद्या ही करते हैं। जिसमें ब्रह्मविद्या का समावेश हो, वही उपनिषद् है। सद् धातु गति के अर्थ में प्रयुक्त होती है तथा ज्ञान, गमन और प्राप्ति यह तीनों ही गति के अर्थ हैं।

इसके पश्चात् क्रियाशक्ति की महत्ता स्वीकार करनी होती है। वह क्रिया शक्ति ही सम्पूर्ण जगत् की रचना करती है। परात्रिंशिका के अनुसार—

> तन्वते संसृति चित्रां कर्ममायाणुतामयीम्।
> अस्याः साम्यं स्वभावेन शुद्ध भैरवतामयम्॥

अर्थात्—वही कर्म-मायाणुतामयी इस विचित्र संसार का विस्तार करती है। यह स्वभाव से ही शुद्ध भैरवतापूर्ण साम्य से युक्त है।

तन्त्रसद्भाव सूत्र विमर्शिनी में मातृका शक्ति का वर्णन निम्न प्रकार किया है—

> या सा तु मातृकादेवी परतेजः समन्विता।
> तया व्याप्तमिदं विश्वं सब्रह्म भुवनात्मकम्॥

अर्थात्—यह मातृका देवी परतेज से समन्वित है। उसके द्वारा ब्रह्म के सहित भुवनात्मक यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है।

शिव पुराण के अनुसार इन्द्रजाल से समान माया से सम्पन्न ईश्वर वशीभूत करने वाली अपनी शक्तियों से सर्व जगत् को वश में करके स्थित है। वह रुद्र एक ही हैं सृष्टि-रचना, रक्षा और संहार करते हैं।

> विश्वधात्रीत्यजाख्या च शैवी चित्राकृतिः परा।
> तामजां लोहितां शुक्लां कृष्णामेकां त्वजः प्रजाम्॥

अर्थात्—विश्व को उत्पन्न करने वाली प्रकृति अजा है, वही शैवी है, वह रजोगुण वाली से लाल वर्ण की, सत्वगुण वाली होने से श्वेत वर्ण की और तमोगुण वाली होने से काले वर्ण की है।

उसी को अनेक प्रकार की प्रजा की उत्पत्ति करने वाली कहा है। जीव उसी को भोगता हुआ सोता है तथा वह अज

इसे भोगकर छोड़ देता है। दो सुपर्ण समान अवस्था के सखा हैं, शरीर रूपी वृक्ष पर समान रूप से स्थित हैं, उनमें से एक जीव है जो वृक्ष के फल खाता अर्थात् कर्म-फल भोगता है और दूसरा परमात्मा है जो केवल देखता है। इस संसार रूपी वृक्ष पर यह पुरुष भोगों को भोगता हुआ मोहवश शोच करता है, परन्तु जब शुद्ध होकर ध्यान करता है, तब परम कारण परमात्मा के ज्ञान से अपनी परमात्मारूपिणी माया को देखकर शोक-मुक्त होजाता है, तब आनन्द प्राप्त होता है। छन्द, यज्ञ, कर्म, भूत, भविष्यत्, वर्तमान इस माया को प्राप्त होकर ही माया का निर्माण करता है, क्योंकि माया ही प्रकृति और माया ही परमेश्वर है। इन्हीं के अवयवों से सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है विश्व का निर्माता और उसे सचेष्ट करने वाले शिव ही हैं। इन्हें हृदय में विद्यमान जानकर यह जीव अमृतत्व को प्राप्त होता है। जब दिन, रात्रि, सत्, असत् कुछ भी नहीं था, तब एक मात्र शिव ही थे।

अविद्या से संसार चक्र है, विद्या से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। विद्या-अविद्या दोनों के अधीश्वर शिव हैं। एक ही परमेश्वर अनेक प्रपंचों की रचना करता और सब को उत्पन्न कर उन पर शासन करता है। उसे कोई स्वभाव कहते और कोई काल कहते हैं, परन्तु जानता कोई भी नहीं, सभी मोहित हैं, उस देव की महिमा ने इस जगत् को भ्रमा रखा है।

और फिर 'तस्यांशांशमयीशक्तिः कालात्मनि महात्मनि। अर्थात् 'उसकी अंशमयी शक्ति कालात्मा रूप से वैसे ही प्रविष्ट होगई, जैसे लोहे में अग्नि प्रवेश करती है' इसलिए विश्व काल के वश में है, परन्तु काल किसी के वश में नहीं, केवल शिव के ही वश में है।

जगद्गुरु ने ब्रह्मसूत्र के 'तदधीनत्वादर्थवत्' (१-४-३) के भाष्य में कहा है कि 'बीजशक्ति अविद्यात्मिका है, उसी का

अव्यक्त शब्द से निरूपण किया जाता है। वह मायायुक्त एवं महासुषुप्ति रूप शक्ति सदा परमेश्वर के अधीन रहती है। आत्म-ज्ञान से रहित संसारी जीव उसी अवस्था का आश्रय करते हैं। उस मायारूप शक्ति का नाम ही अव्यक्त है।

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्' (श्वेता० ४।१०) अर्थात् 'माया को प्रकृतिरूप और मायी (माया के अधिपति) को महेश्वर जान।' यह माया ही अव्यक्त है तो 'अव्यक्तं महतः परम्' अर्थात् 'महत् से अव्यक्त श्रेष्ठ है?' कहीं-कहीं इस माया को ही प्रकृति कहा गया है। जब ब्रह्म माया के तमोमय आवरण से आच्छादित होजाता है, तब उसकी वह अवस्था प्रथम स्पन्द माना जाता है और इसी अवस्था में माया के प्राकट्य के साथ माया- शबल ब्रह्म में शिव तत्व और शक्तितत्व दोनों ही व्यक्त होने लगते हैं।

अहं प्रत्यय शिव-तत्व है, परन्तु शिव-तत्व में अहं प्रत्यय की विद्यमानता अनन्य मुख अहं विमर्श वाला होता है। जो विश्वा-कार होकर विश्व को प्रकाशित और प्रलय करे, उस आदि कारण अकृतिम अहंभाव का स्फुरण ही विमर्श कहलाता है। उस अहं की स्फुरणा में अपने से भिन्न किसी भी वस्तु का बोध संभव नहीं, अहंभाव के साथ जिस इदं भाव का उदय होता है, वही इदंभाव शक्ति तत्व है। अहं अर्थात् 'मैं' और इदं अर्थात् 'यह' दोनों ही भाव युगपद उदय और अस्त होते रहते हैं।

'ज्योतिरूपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एक' (ब्रह्मसूत्र १-४-६) के अनुसार परमेश्वर से उत्पन्न हुई तेज, जल, अन्न के लक्षण वाली चार प्रकार के भूतसमूह की प्रकृति (अजा) है। श्वेताश्वर उपनिषद में 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्ति स्वगुणो-

निगूढाम्' अर्थात् 'उन ध्यान योग में अनुगत हुए ने देवात्म की शक्ति को अपने गुणों से ढकी हुई देखो' और फिर श्रुति में कहा है कि 'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' (वृह० ३-८-११) अर्थात् 'हे गार्गी ! वस्तुत: इस विनाश-रहित आकाश में ओत प्रोत है'इस प्रकार अनेक स्थानों पर शक्ति का निरूपण 'आकाश' शब्द से भी हुआ है।

इस प्रकार देश-काल से अतीत ब्रह्म में आकाश के ओतप्रोत होने की भावना से माया का अस्तित्व व्यक्त करता है। आकाश में स्पन्द हो भी सकता है, परन्तु देश-काल से परे ब्रह्म में स्पन्द नहीं हो सकता। और यह देश-काल माया के ही अंग हैं, ब्रह्म के नहीं। इस प्रकार आकाश में स्पन्द, स्पन्द में शक्ति और शक्ति में ब्रह्मतेज—इन सब का समन्वय रूप होने पर ही यह मान्यता बनती है कि शक्ति-सम्पन्न शिव ही प्रभव करने में समर्थ है। माया बीज द्वारा यही भाव प्रकट होता है।

हकार आकाश का, रकार स्पन्द का, ईकार शक्ति का और अनुस्वार ब्रह्मतेज का द्योतक है। ब्रह्म में माया का आवरण तमोमय है, तो भी हिरण्मय तो कान्तियुक्त होता ही है। यथा—'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' अर्थात् 'सत्य का मुख हिरण्मयरूप पात्र से ढका है।' इस प्रकार हिरण्मयरूप आवरण में एक कान्ति, एक प्रभा, एक तेज है। आकाश तत्व के दो अक्षर हैं—शकार और हकार, यदि हकार के स्थान पर शकार हो तो वह श्रीबीज बन जायगा।

रकार अग्नि-बीज है, अग्नि हिरण्मय स्वरूप और शक्ति स्वरूप भी है, परन्तु उसमें जो तेज अथवा श्री और शक्ति है,

वह स्वयं की नहीं, वरन् ब्रह्म की ही है। इस विषय में 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' स्पष्ट रूप से कहा है।

केनोपनिषद् में एक प्रसंग है कि ब्रह्म ने देवताओं के नि मत्त विजय प्राप्त की, परन्तु उस विजय को देवताओं ने अपनी ही समझ लिया। देवताओं के उस अहंभाव को जानकर ब्रह्म यक्ष रूप में प्रकट हो गया। देवगण उसे न पहिचान कर अग्नि से बोले—'हे जातवेदाः! इसका पता लगाओ कि यक्ष कौन है?' अग्नि दौड़कर ब्रह्म के पास पहुँचे और पूछने पर बोले—'मैं जातवेदा अग्नि हूँ।' ब्रह्म ने पूछा—'तुममें क्या शक्ति है?' अग्नि ने कहा—'मैं चाहूँ तो संसार में जो कुछ है, उस सबको भस्म कर डालूँ।'

'तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति। तदुपप्रेयाय सर्वजनेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति॥

अर्थात्—तब ब्रह्म ने अग्नि के सामने एक तिनका रख कर कहा—'इसे भस्म करो।' तब अग्नि अपनी पूरी शक्ति के साथ उस तिनके की ओर दौड़े और किसी प्रकार भी भस्म न कर सके। तब वह वहाँ से लौटकर देवताओं से बोले कि 'मैं यह जानने में समर्थ नहीं हुआ कि यह दिव्य यक्ष कौन है।

तब देवताओं ने वायु देवता को यक्ष का पता लगाने के लिए भेजा। वहाँ जाकर वायु अपनी पूरी शक्ति लगाकर एक तिनका भी न उड़ा सके और लौट आये। यह देखकर इन्द्र ने हिमाचल-कुमारी उमा से जाकर पूछा—'यह यक्ष कौन था?' तब—

सा ब्रह्मेति होवाच। ब्रह्मणो वा एतद् विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति॥

उमा बोलीं—'वह परब्रह्म हैं, उनकी विजय को तुम अपने अहंभाव से अपनी विजय मानने लगे थे। उमा के इस उत्तर से इन्द्र ने समझ लिया कि वह अवश्य ही ब्रह्म है।'

इस प्रकार अग्नि आदि में जो तेज और शक्ति है, वह सब ब्रह्म की ही है। इसीलिए शंकराचार्यजी ने यहां कहा है कि 'न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि' अर्थात् 'यदि वह शक्ति से युक्त न होता तो स्पन्दित होने में भी समर्थ नहीं हो सकता था।'

ब्रह्म का तप उसके ज्ञान का उन्मेष अर्थात् ज्ञान नेत्र का खुलना है। अथवा यह कहना चाहिए कि ज्ञान ही तप है। यह ज्ञानमय तप द्वितीय स्पन्द है, जो कि सदाख्य या शिवतत्व भी कहलाता है। यह अहं-इदं विमर्ष युक्त द्वितीय स्पन्द भी एक बीज के समान है, जो दो दल वाला होने पर भी देखने में एक ही प्रतीत होता है। यही स्वरूप अर्धनारीश्वर कहा जाता है।

सृष्टि करने की इच्छा यही सदाख्य या शिवतत्व करता है। उस संकल्पात्मिका शक्ति का स्थान मन है। ऋग्वेद में कहा है—

कामस्तदग्र समवर्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्।
सतोबन्धुमसति निरविन्दं हृदि प्रतीष्याकवयो मनीषाः ॥

अर्थात्—'उसने प्रथम लोक सृष्टि की इच्छा की। प्रथम उसके मन की रेतस् शक्ति हुई। उस असत् में सत् ने अपना साथी प्राप्त किया, यह वृत्तान्त सर्वज्ञ ऋषियों ने जिज्ञासा पूर्वक जान ली।' इस प्रकार इच्छा, मन, और संकल्पात्मक रेतस् में इच्छा ही सदाशिव का रूप है और उस मन की शक्ति जो

रेतस् है, वह सद्विद्या या शुद्ध विद्या है उसी का परिणाम असद्विद्या होती है।

उस शक्ति का परिणाम ही वर्णात्मक और अक्षरात्मक दो प्रकार का है। वर्णात्मिका शक्ति का आविर्भाव इच्छा के साथ ही होता है। यही शक्ति सरस्वती कहलाती है। इसी को स्वरात्मिका भी कहते हैं।

सम्पूर्ण सृष्टि का रूप धारण करने वाली शक्ति अर्थात्मिका है। यह इच्छा से उत्पन्न होकर संकल्प रूप होती और फिर विश्व की तीनों अवस्थाओं—सृष्टि, पालन और संहार की कल्पना करती हुई कल्प का निर्माण करती है। ब्रह्म के दिन को कल्प कहते हैं, जोकि १२००० दिव्य वर्ष अर्थात् ४३२०००० मानवी वर्ष का होता है। इस प्रकार अर्थात्मिका शक्ति काल की प्रतीक भी है और 'कालो हि जगदाधारः' अर्थात् 'वह काल ही जगत् का आहार है।' इसीलिए शक्ति का नाम काली भी है। उस काली तत्व का विवेचन करते हुए कहा गया है कि काली कालतत्व पर प्रतिष्ठित रहती है। इसका अभिप्राय यह है कि शक्ति का कार्य स्वाभाविक सृष्टि की रचनात्मक प्रक्रिया का संचालन और ध्वंस के कारण हुई विशेष क्षति की पूर्ति का आयोजन है। इस द्विविध उपयोगिता के कारण ध्वंस के देवता महाकाल की अपेक्षा सृजन की देवी अर्थात् महाकाली का महत्व अत्यधिक होता है।

इस प्रकार शिव की निद्रा अवस्था में शक्ति जाग्रत रहती है। उस समय शिव का महत्व घट जाता और शक्ति की गतिशीलता बढ़ने के कारण उसी की पूजा होती है। इसीलिए मार्कण्डेय पुराण में दुर्गा की महिमा वर्णन करते हुए कहा है—

यया त्वया जगत्स्रष्टा जगत्पाताऽत्ति यो जगत् ।
सोऽपि निद्रावशं नीतः कस्त्वां स्तोतु महेश्वरः ॥
विष्णुः शरीर ग्रहणमहमीशान एव च ।
कारितास्ते यतोऽतस्त्वां कः स्तोतुं शक्तिमान ॥

अर्थात्–'जगत् की सृष्टि, रक्षा और संहार करने वाले ब्रह्म को भी जो निद्रा के वश में करने की क्षमता रखती है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर यह तीनों जिनकी इच्छा से रूप धारण करते हैं, उन महान महिमामयी की स्तुति कौन कर सकता है?'

दुर्गातत्व के विश्लेषण में कहा गया है—

यथेदं भ्राम्यते विश्वं योगिभिर्या विचिन्त्यते ।
यद्भासा भासते विश्वं सैका दुर्गा जगन्मयी ॥

अर्थात्—'जिसके द्वारा यह संसार चक्र चलता रहता है, जिसका योगिजन सदैव चिन्तन करते रहते हैं और जिसके प्रकाश से यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित होरहा है, वही जगत् व्यापी दुर्गातत्व है।

शिव की काम या संकल्प शक्ति का स्वरूप होने के कारण शक्ति को कामेश्वरी भी कहते हैं। क्योंकि काम देव की उपासनीया विद्या मूलादि विद्या ही है। शक्ति-बीज क्लीं काम-बीज भी माना गया है।

बीज-मंत्रों से ब्रह्म की उपासना का बड़ा महत्व है। ऐं, ह्रीं, श्रीं, क्लीं, क आदि बीज-मंत्र हैं। इनका उदय महाभूतों से अंगीकार किया जाता है। 'ऐं' का प्रादुर्भाव अग्नि से होने के कारण उसकी पीठ मणिपूर, आयतन वाक्शक्ति का स्थान विशुद्ध चक्र और विकास-स्थान जिह्वा का अग्रभाग है। 'ह्रीं'

आकाश से उदित है। इसकी पीठ विशुद्ध चक्र में और आयतन सहस्रार पर्यन्त माना गया है।

'श्रीं' का उदय स्थान भी आकाश ही है, उसकी पीठ भी विशुद्ध चक्र में तथा आयतन आज्ञाचक्र पर्यन्त है। 'क्लीं' में लकार से पृथिवीतत्व की प्रधानता के सहित वायु तत्व है। 'क' का तात्पर्य जल से भी है, इसकी पीठ मूलाधार तक और आयतन काम, संकल्प एवं कामना तीनों में है, इसलिए स्वाधिष्ठान और अनाहत आज्ञाचक्र पर्यन्त है।

वाक्-शक्ति का संकल्पों के साथ सम्बन्ध होने के कारण क्लीं से ऐं का साथ रहता है और कान्ति में शक्ति का प्रकाश होने से ह्रीं का साथ श्रीं से होता है।

सर्व कामनाप्रद मंत्र के अंगभूत ऐं, क्लीं हैं और उस मंत्र को दो प्रकार से प्रयुक्त करते हैं। एक प्रकार में ह्रीं श्रीं को रख कर या उसे गर्भ में रख कर प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार उसके दो रूप बनते हैं— १) ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं, और (२) ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं। यह ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक मंत्र का आदि अक्षर अथवा बीजमन्त्र समूचे मन्त्र का मुख बनकर उस मंत्र को संचालित करता रहता है।

क्लीं बीज का निर्माण मकारयुक्त ककार से हुआ है। ककार का अभिप्राय काम, जल, प्राण और मुख भी है। जल से प्राण विकसित होता है, उस प्राण का स्थूल रूप वायु ही है। वायु की उत्पत्ति आकाश से और आकाश की उत्पत्ति सूक्ष्म प्राण से मानी गई है। वह प्राण ब्रह्म का तेज अथवा ब्रह्मरूप ही है। पाशुपत-ब्रह्मोपनिषद् के अनुसार 'चतुर्मात्रात्मकोंकारो मम प्राणात्मिका देवता' अर्थात् 'चार मात्रा वाला ओंकार मेरा प्राणरूप देवता है।'

क्लीं में ककार के साथ जो लकार है, वह पृथिवी का अक्षर है। पृथिवी से अन्न और अन्न से मन होता है। मूलाधार क्लीं बीज की पृष्ठ है,जहाँ पृथिवी और जल दोनों वेधित होकर मन-प्राण के विकास में सहायक होते हैं। वह मन ही आनन्द का स्थान है और आनन्द को ही ब्रह्म माना गया है। इस प्रकार ब्रह्म की प्राप्ति में प्राण और मन दोनों ही क्लीं के सहयोग से सहायक होते हैं।

अग्निबीज 'ऐं' ब्रह्म की प्राप्ति में इस प्रकार सहायक होता है कि अग्नि से वाक् और वाक् से ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान साक्षात् ब्रह्म ही माना जाता है। सूर्य रूप अग्नि से दृष्टि का उदय होता है। दृष्टि को सत्य की पीठ और सत्य को स्वयं ब्रह्म समझना चाहिए।

स्थूल प्राण का स्थान हृदय माना गया है। प्राण की सूक्ष्म गति से वायु वेधित होकर आकाश को वेधती है। अनन्त की पीठ श्रवणेन्द्रिय की पीठ आकाश से है और वह अनन्त ही ब्रह्म है।

हृदय से ही अहंभाव का स्फुरण होता है। अहं में ही सत् की पीठ है और सत् ही ब्रह्म है। इस प्रकार ऐं-क्लीं दोनों से ही सर्व चक्र वेधित होकर ब्रह्म-प्राप्ति हो सकती है।

शिव के शक्ति से युक्त होने पर ही उसका स्पन्दित होना संभव है। क्योंकि स्पन्द शिव में नहीं, वरन् शक्ति मे होता है। शिव अहंभाव और शक्ति इदंभाव है। अहंभाव अपरिणामी और इदंभाव परिणामी है। अहंवृत्ति के आविर्भाव के साथ ही युगपद इदंभाव भी आविर्भूत होता है। जब अहंभाव लीन होता है, तब इदंभाव भी विलीन होजाता है।

सुषुप्ति और समाधि में न अहंभाव रहता है, न इदंभाव। जाग्रत् में दोनों का ही व्युत्थान युगपद होता है। इदंभाव अहं की ही एक वृत्ति समझनी चाहिए। अहं के बिना इदं का भी अस्तित्व नहीं है, वरन् अहं का उदय ही निरपेक्ष आत्मा से होता है। उसका विद्यमान होना सुषुप्ति और समाधि में भी है। अहं और इदं दोनों के उदय से सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है, वह अभिव्यक्ति ही स्पन्द है।

श्रीविद्या या ब्रह्मविद्या

योग से ज्ञान और ज्ञान से योग की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि योग रहित ज्ञान या ज्ञान-रहित योग से ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। वह ब्रह्मविद्या ही श्रीविद्या है। उसके दो अंग माने गए हैं कादिविद्या और हादिविद्या। उनके दो आदि अक्षर शिव और शक्ति के प्रतीक हैं। इस प्रकार शिव का अक्षर शक्ति के अक्षर के योग से ही पूरा मन्त्र बनाने में समर्थ होता है।

तृतीय अक्षर सदाख्य तत्व का, चतुर्थ अक्षर महेश्वर का और पंचमाक्षर शुद्ध विद्या का प्रतीक होता है। दोनों अक्षरों के बाद का अर्थात् तृतीय अक्षर काम का और चतुर्थ शिव का वाचक है। पंचमाक्षर पृथिवी से सम्बन्धित है। इस प्रकार द्वितीयकूट ईश्वर, जीव और विश्व का भेद प्रदर्शित करता हुआ, विद्या-कला का सूचक है। तृतीत कूट प्रतिष्ठा और निवृत्ति का सूचक शक्ति-कूट है। इस प्रकार कादि विद्या को प्रभव मन्त्र समझना चाहिए।

षोडशो विद्या

षोडशी विद्या भी श्रीविद्या का ही एक रूप है। उसके भी अनेक अवान्तर भेद कामादि, रमादि, मायादि, वागादि, तारादि

षोडशी के नाम से होते हैं। जिसने जिस उद्देश्य से उपासना की उसने उसी नाम का प्रयोग किया।

श्रीविद्या गायत्री का ही एक तान्त्रिक स्वरूप है। गायत्री के प्रथम चरण में स्पष्ट कहा है कि वह निर्गुण ब्रह्म ही विश्व का आदि कारण सविता एवं वरण करने के योग्य है। दूसरे चरण में कहा है कि वह ध्यान का विषय न होने से वरेण्य है, अतः उसकी तेजोमयी सत्ता भर्गस् का ध्यान करना चाहिए। तीसरे चरण में प्राण रूप रुद्र की सहायता से ब्रह्मपद प्राप्ति की जिज्ञासा व्यक्त की है। इससे सिद्ध होता है कि श्रीविद्या स्वरूपा ब्रह्मविद्या गायत्री से सम्बन्धित है।

जड़ क्रिया, ज्ञान और इच्छाशक्ति जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति व तुरीय स्थान, लोचन-कण्ठ हृदय, सहस्रार चक्र, भूः-भुवः स्वः तीन लोक स्वर्ग और तमादि गुण हैं। फिर एक-एक गुण के तम रूप इत्यादि भेद से तीन प्रकार हैं। यह सब जिसके आश्रय से स्थित हैं, वह इन सब के पूरक प्रधान देवादि विद्या, तदंग देवता मन्त्र प्रतत (श्री चक्र) मध्य त्रिकोण-रूप कामिनी चिद् शक्ति और उसके साथी विन्दुरूप कामेश्वर प्रमुख रूप से विद्यमान हैं। उनके पारिवारिक मदन्ति का आदि पन्द्रह देवता चारों ओर से सेवा करते हैं। वह यह अमृत द्वारा 'मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है' अथवा 'यह सम्पूर्ण विश्व प्रपंच मैं ही हूँ' इस प्रकार के निश्चय द्वारा स्वरूप के अनुसन्धान में जिसने सब कुछ भुला दिया, ऐसी चिद् शक्ति शिव के साथ विराजमान है, ऐसाजानने वाले योगी उसके पद को प्राप्त होते हैं, यह त्रिपुरोपनिषत् का मत है।

इस प्रकार शिव के साथ शिव-शक्ति की उपासना आवश्यक है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव ने भी जो श्रीविद्या की उपासना की थी,

उन विद्याओं को ब्राह्मी, वैष्णवी और शांकरी कहा जाता है।

श्रीविद्या का सूक्ष्म शरीर उसके मन्त्र और स्थूल शरीर श्री चक्र है, जिसमें शिव-शक्ति महात्रिपुरसुन्दरी निवास करती है। इसलिए वह श्रीचक्र ब्रह्माण्ड का भी प्रतीक है। ज्ञानीजन मनुष्य शरीर को भी श्रीचक्र का रूप मानते हैं। श्रीचक्र में जो चार शिव-कोण और पाँच शक्ति-कोण हैं, उन्हीं के सम्मिलन से पूरा चक्र बनता है। यह सम्मिलन नहीं होता तो परंशिव का प्रतीक बिन्दुमात्र ही शेष रहता है।

तनीयांसं पांसुं तव चरणपंकेरुहभवं
विरिंचि संचिन्वन्विरचयति लोकानविकलम्।
वहत्येनं शौरिः कथमपि सहस्रेण शिरसां
हरः संक्षुद्यैनं भजति भसितोद्धूलनविधिम्॥२

टीका—तुम्हारे पदपद्म से उत्पन्न होने वाले एक छोटे-से रजकण को लेकर ब्रह्मा अविकलरूप से लोक-लोकान्तरों को रचता है, उसे किसी प्रकार अपने सहस्र शिरों पर उठा कर शेषनाग धारण करता और शिव उसको भस्म करके, उस भस्म को अपने अंग पर लगाते हैं॥२॥

व्याख्या—ब्रह्मा जगत् की रचना करते और शेषनाग उसे धारण करते हैं। इस श्लोक में शौरि शब्द का प्रयोग शेष नाग के लिए हुआ है। शौरि विष्णु का एक नाम है और शेषनाग विष्णु की शक्ति का ही एक रूप माना जाता है। पुराणों के अनुसार राम और कृष्ण दोनों ही विष्णु अवतार हैं, जिनके साथ

लक्ष्मण और बलदेव शेष के अवतार माने जाते हैं। यहाँ विष्णु की शक्ति रूप शेषनाग को शौरिरूप से कहा गया है।

नैयायिकों और वैशेषिकों के मतानुसार परमाणु ही सृष्टि का उपादान कारण है। सांख्य और योग के अनुसार सृष्टि का उपादान कारण मूल प्रकृति है, जिसे प्रधान और अव्यक्त भी कहते हैं। प्रधान में तीनों गुणों की साम्यावस्था होती है और जबविषमावस्था होती है तब उसी को महत्तत्व कहते हैं। वेदान्त ने ईश्वर की इच्छाशक्ति को सृष्टि का आदि कारण माना और जड़ प्रधान कारण वाद एवं अणुवाद दोनों का खण्डन किया है। इस श्लोक में तीनों का समन्वय करके इच्छाशक्ति को ही कारण स्वीकार किया गया है।

'पांसु' शब्द से अणुवाद का और 'चरणपंकज' से प्रधान-कारणवाद का आभास मिलता है। इसमें देवी के चरणों को कमल के समान बताया है। इच्छाशक्ति तमोगुणात्मक है इसलिए जड़ावस्था में परिवर्तित होने के कारण ही यह उपमा दी गई है।

घनीभूत इच्छाशक्ति के स्थूल पंक से उत्पन्न होने वाले दो पद पंकज ही मानो सत्-असत् विद्यारूपी दो चरण हैं औरकमलों से उत्पन्न पराग रूप रज उन चरणों से लगी है, वह अणु-रूप है सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् के अनुसार—

'अमलकमलसंस्था तद्रजः पुञ्जवर्णा
कर कमल धृतेष्वाभीतियुग्माम्बुजा च।
मणिमुकुट विचित्रालंकृताकल्पजालैः
सकलभुवनमाता संततं श्रीः श्रियै नः॥

अर्थात्—अरुण वर्ण के कमलदल पर विराजमान, कमल-रज-पुंज के समान पीले रंग वाली, वर मुद्रा, अभयमुद्रा, दो हाथों में कमल पुष्पधारिणी, मणिमय मुकुट और अलंकारों से अलंकृत सर्वलोकमाता श्री हमें निरन्तर श्री से सम्पन्न करें।

रज-पुंज पर प्रकाश डालते हुए ऋग्वेद में कहा गया है।

यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रा रेणुरपायत॥
यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
अत्रा समुद्र आ गूलहमा सूर्यमजभर्तन।

—ऋग्वेद१०।६।८२।६-७

अर्थात्—देव शक्तियाँ इस पृथिवी में अत्यन्त उत्साहित एवं सलिलाकार दिखाई देने लगीं, और नृत्य-सा करने लगीं जिससे सब ओर तीव्र धूल उड़ने लगी। इस प्रकार उन शक्तियों ने समस्त विश्व को मेघ के समान आच्छादित कर लिया और आकाश में छिपे हुए सूर्य को भी प्रकाशित किया।

इससे सिद्ध होता है कि सलिलाकार अर्थात् घनीभूत हुई शक्तियाँ अपने नृत्य रूप संवेग से परमाणुओं का निर्माण करती हैं।

परमेश्वर की अनन्त शक्ति परिपूर्ण है, वह अनन्त से प्रवाहित एवं सक्रिय होकर ब्रह्माण्ड की रचना करती है, वह अणु-अणु में व्याप्त होकर जो उसका कुण्डलाकार रूप होता है, उसे सर्प से उपमित किया जाता है। वही अथर्ववेद का उच्छिष्ट ब्रह्म अथवा पुराणों का विष्णु-पर्यंक है। वही शेष नाग अनन्त कहलाता है, क्योंकि ब्रह्माण्ड-धारण में उसका जो योग है, उसी के

कारण यह धरती टिकी हुई है। क्योंकि शेष शक्ति पूर्ण रूप से ब्रह्माण्ड का भार वहन करती है, इसीलिए उसे सहस्रशीर्षा कहा गया है। साथ ही, धारणकरने वाली होने से वह शेष शक्ति विष्णु के समान, एवं विष्णु-रूप ही है।

जिस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आश्रय शेषनाग है, वैसे ही सर्व योगतन्त्रों का आश्रय कुण्डलिनी शक्ति है। योगकुण्डल्युपनिषत् के अनुसार प्राणायाम आदि से अग्नि की तीव्रता अत्यधिक हो जाती है,जिससे संतप्त होकर सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत् होती है और दण्ड से आघातित सर्पिणी के समान फुत्कार कर सीधी होजाती है।

उस कुण्डलिनी का अष्टधा प्रकृति को प्राप्त होकर शिव के साथ मिलना और उनके साथ लय को प्राप्त होजाना कहा है और तत्पश्चात्—

इत्यधोर्ध्वरजः शुक्ले शिवे तदनु मारुतः।
प्राणापानौ समौ याति सह जातौ तथैव च॥

अर्थात्—इससे अधोभाग का रज और ऊपर का शुक्ल मिल कर शिव में लीन होते और प्राण-अपान भी उन्हीं में मिल जाते हैं, क्योंकि वे साथ ही उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् होकर प्रतिप्रसव क्रम को प्रकट करती और सर्व तत्वों को लयाभिमुखकरती हुई जब शिव में लीन होने के लिए सुषुम्ना-मार्ग द्वारा सहस्रार में आरोहण करती है, तब उसके द्वारा सब तत्वों का भस्म हो कर शिव के अंग की विभूति बना देने की उपमा दी जा सकती है। क्योंकि—

ज्वलनाघात पवना घातोरुन्निद्रितोऽहिराट् ।
ब्रह्मग्रन्थि ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थि भिनत्यतः ॥
रुद्रग्रन्थि च भित्वैव कमलानि भिनत्ति षट् ।
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ॥
सैवावस्था पराज्ञेया सैव निर्वृत्ति कारणा ॥

अर्थात्—अग्नि और पवन दोनों के आघात से वह सुप्त कुण्डलिनी जागती और ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि एवं रुद्रग्रन्थि तथा षट् चक्र को भेदन करती हुई सहस्र दल कमल में पहुँच जाती है। वहाँ वह शिव से शक्तिरूप में मिल कर आनन्द को प्राप्त होती है यही श्रेष्ठ और मोक्षदायक अवस्था है।

इस सब से यह सिद्ध होता है कि देवी के चरण प्रत्येक चरण में हैं और उसी के योग से शिव शेषनाग द्वारा धारण किये हुए ब्रह्माण्ड का सहार करने में समर्थ होते हैं।

अविद्यानामन्तस्तिमिरमिहिरोद्दीपनकरी
जडानां चैतन्यस्तबकमकरन्द स्रुतिझरी ।
दरिद्राणां चिन्तामणिगुणनिका जन्म जलधौ
निमग्नानां दंष्ट्रा मुररिपुवराहस्य भवती ॥३॥

टीका—तुम अविद्या में पड़े जीवों के अन्तरान्धकार को दूर करने के लिए (ज्ञानरूप) सूर्य का उद्दीपन करती हो और जड़ जीवों के लिए चैतन्यस्तबक अर्थात् ज्ञानरूप चेतन गुलदस्ते से निकलने वाले मकरन्द के स्रोतों का झरना रूप हो। तुम ही दरिद्रियों के लिए चिन्तामणि-माला और जन्म-मरण रूप भव-सागर में निमग्न हुओं का मुर-रिपु वराह भगवान् के दाँत के समान उद्धार करने वाली हो।

व्याख्या—भगवती अज्ञान को नष्ट करने वाली, दरिद्रियों को धन देने वाली तथा जड़ता का नाश करने वाली है। उसकी उपासना से उपासक भवसागर से पार होता और मोक्ष प्राप्त करता है।

विद्या दो प्रकार की है-परा और अपरा। चारों वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि अपरा विद्या और ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाली परा विद्या कहलाती है। अपरा विद्या का ज्ञाता अविद्या में निमग्न रहते हैं, जिससे ब्रह्म प्राप्ति संभव नहीं है, क्योंकि कर्मकाण्ड और उसकी सभी क्रियाएँ अविद्यामय ही हैं।

जिन्हें ब्रह्म-प्राप्ति की जिज्ञासा होती है, वे अपरा विद्या से दूर रहते हैं। वे पराविद्या के अन्वेषक विद्वानों की शरण में जाकर इसी विद्या की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि यही विद्या मुमुक्षुजनों को मोक्ष प्राप्त कराने में समथ है।

स्वर्ग-प्राप्ति के उद्देश्य से अथवा अन्य कामनाओं के कारण किये जाने वाले सभी कर्मानुष्ठान, यज्ञादि अस्थिर हैं, इन्हें करने वालों के कर्मों का क्षय नहीं होता, इसलिए बार-बार जन्म-मरण के चक्र में पड़ कर घूमते रहते हैं। क्योंकि—

सृण्येव सितया विश्वचर्षणि: पाशेनैव प्रतिबध्नात्यभीकान्।
इषुभि: पंचभिर्धनुषा च विद्धत्यादिशक्तिररुणा विश्वजन्या॥

—त्रिपुरोपनिषद्

अर्थात्—अनेक प्रकार की इच्छाओं से युक्त मनुष्यों को विश्वमाता आदि शक्ति अरुणा ब्रह्मविद्या मात्र होकर उपसंहार करती और उनसे सिद्धियों को छिपाती हुई वंचित रखती है।

तथा अज्ञानरूपी पाशों से बाँध कर उन्हें संसाररूपी महागर्त में डाल देती है, तब वे जन्म-जन्मातरों पर्यन्त इसी आवर्त में घूमते रहते हैं।

इस प्रकार इष्टापूर्त कर्मों के करने वाले मोक्ष-प्राप्ति में सदा असमर्थ रहते हैं। परन्तु वे अपने अज्ञान में इतने डूबे रहते हैं कि अपने उस अज्ञान को ही ज्ञान मानते हैं। वह अपने को कृतार्थ समझ कर आनन्दित होते रहते है। उनकी दृष्टि में उस मार्ग के अतिरिक्त कोई अन्य श्रेयस्कर मार्ग नहीं है। यथा—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोक हीनतर वा विशन्ति ॥

अर्थात्—इष्टापूर्त कर्मों को श्रेष्ठ मानने वाले वे मूर्ख अपने मार्ग से अन्य किसी मार्ग को श्रेयस्कर नहीं समझते। वे अपने पुण्यों को स्वर्ग-पृष्ठ पर भोग कर पुनः इसी लोक में आजाते अथवा इससे भी किसी निकृष्ट लोक में जा सकते हैं।

परन्तु निष्काम बुद्धि से चिद्शक्ति का ध्यान करने वाले जिज्ञासु अवश्य कृतकृत्य होते हैं। क्योंकि—

परिसृता हविषा भावितेन प्रसंकोचे गलिते वैमनस्कः।
शर्वःसर्वस्य जगतो विधाता धर्ताहर्ता विश्वरूपत्वमेति ॥

अर्थात्—निष्कामबुद्धि उपासकों की भावनाओं द्वारा ज्ञान विज्ञान, सम्यक्-ज्ञान रूप हवि से तृप्त होकर अपने उपासकों पर प्रसन्न हो, विक्षेपरूपी आवरण के गल जाने पर शिव के साथ अपने उपासक की आत्मस्वरूपा बनकर अवशिष्ट रह जाती है। इस प्रकार उपासक अपनी दृष्टि से कल्पित प्रपंच से उन्मनस्क

होकर सम्पूर्ण विश्व के उत्पादक पालक संहारक शिव में विश्व रूपता का आपादन करने में समर्थ होता है।

इससे यही मान्यता होती है कि यागादि कर्मों के अनुष्ठान कराना या कूप, तड़ाग, मन्दिर, धर्मशाला बनवाना आदि इष्टापूर्त कर्म हैं, इनसे स्वर्ग की प्राप्ति तो संभव है, किन्तु मोक्ष-प्राप्ति संभव नहीं है और स्वर्ग में अपने अर्जित पुण्यों के फलरूप भोगों के समाप्त होने पर, उन्हें फिर इसी लोक में लौटना होता है। इस पर भी यदि किसी पुण्यहीन कर्म का पलड़ा भारी हो गया तो अन्य हीन लोक अथवा किसी हीन योनि की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार सभी सकाम कर्म अविद्या से उत्पन्न या अविद्या रूप ही है। जो लोग कर्म को ही मोक्ष का साधन समझते हैं, वे अपने इच्छित भोगों को ही माँगते हैं। वे भगवान् का भजन करते हुए भी भगवान् को प्राप्त नहीं कर पाते।

जाग्रत् हुई कुण्डलिनी शक्ति जब शिव-सायुज्य की ओर आरोहण करती है, तब प्रतिप्रसव क्रम के द्वारा सभी इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बना देती है। उस अवस्था में मन की उड़ान रुक जाती है और बुद्धि भी बहिर्चिन्तन से विश्राम पा लेती है। उस समय आत्मरूपी सूर्य को आवृत्त करने वाले विषयरूपी मेघ हटने लगते हैं और हृदयाकाश स्वच्छ होकर ज्ञान का प्रकाश होने लगता है। उस अवस्था में अविद्या रूपी प्रगाढ़ अन्धकार में आश्रय पाने वाले वासनारूपी उलूकादि पक्षियों को भागना होता है। इसीलिए शिव की शक्ति सर्वप्रथम जिज्ञासु के अविद्यान्धकार को दूर करने के लिए ज्ञानरूपी सूर्य को प्रकट करती है।

इसी अभिप्राय से देवी को ज्ञानरूपी चेतन गुलदस्ते से निकलने वाले मकरन्दों का झरना कहा है। क्योंकि सूर्यरूपी ज्ञान को

शक्ति जाग्रत् होकर ज्ञानामृत का स्राव करने लगती है, जिसके कारण बाह्य विषयों की वासनाएँ स्वयं शान्त होने लगती हैं। चाक्षुषोपनिषद् के अनुसार 'असतोमा सद्गमय,तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय' अर्थात् 'मुझे असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश के ओर और मृत्यु से अमृतत्व की ओर ले चलो। इस प्रकार यह सूर्यरूपी ज्ञानशक्ति का ही गुणानुवाद है, जोकि पराविद्या का ही प्रतीक है।

इस भाँति यह यह पराविद्या अविद्यान्धकार में पड़े हुए इष्टापूर्त कर्मों में लगे कर्मकाण्डियों को भी बाह्य अनुष्ठानों से विमुख करने में समर्थ होती है। क्योंकि देवी के चिन्मयोद्यान के प्रसूनों से प्रवाहित मधुर मकरन्द के झरनों से जड़ मनुष्यों की जड़ता भी द्रवीभूत होजाती है।

आत्मा संग-रहित है, उसका जड़ प्रकृति या उसके विकारों से संग नहीं है। वह शरीर नहीं, वरन् शरीर से भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व वाला है। परन्तु उसकी चेतनता का प्रकाश सूक्ष्म और स्थूल शरीर पर दिखाई देता है। भ्रान्ति से ही देहाभिमान की उत्पत्ति होती है। क्योंकि आत्मा कभी शरीर नहीं हो सकता। वह तो स्वभाव से ही असंग है, उसमें दु:ख, वेदना, ग्लानि आदि कुछ भी नहीं, यह सब शरीर के ही धर्म हैं। शरीर के आवरण से उसे इन धर्मों की भ्रान्ति जितनी दृढ़ होती जाती है, उतना ही देहाध्यास बढ़ता जाता है। आत्मबोधोपनिषत् के अनुसार–

> कर्तृत्वमद्य मे नष्टं कर्तव्यं वाऽपि न क्वचित्।
> ब्राह्मण्यं कुलगोत्रे च नाम सौन्दर्यजातयः॥
> स्थूलदेहगता एते स्थूलाद्भिन्नस्य मे न हि।
> क्षुत्पिपासाऽऽन्ध्यबाधिर्य कामक्रोधादयोऽखिलाः॥

लिंगदेहगता एते ह्यलिंगस्य न विद्यते ।
जडत्वप्रियमोदत्व धर्माः कारणदेहगाः ॥
स्वल्पोऽपि बोधो महतीमविद्यां नाणयेत्तथा ।
कालत्रये यथा सर्पो रज्जौ नास्ति तथा मयि ॥
अहंकारादि देहान्तं जगन्नास्त्यहमद्वयः ।
चिद्रूपत्वान्न मे जाड्यं सत्यत्वान्नानृतं मम ॥
आनन्दत्वान्न मे दुःखमज्ञानाद्भाति सत्यवत् ॥

अर्थात्—ब्राह्मणत्व, कुल-गोत्र, नाम, सुन्दरता और जाति आदि का अस्तित्व तो स्थूल शरीर में ही होता है, मैं तो स्थूल रूप से भिन्न हूँ, इसलिए उनमें से किसी से भी मेरा कोई संबंध नहीं है। भूख, प्यास, अन्धापन, बहरापन, काम-क्रोधादि सभी धर्म लिंगदेह के हैं और मैं लिंगदेह से परे हूँ, इसलिए मुझमें इन में से कुछ भी नहीं है। जड़ता, प्रियता और आनन्द आदि कारणदेह के धर्म हैं और मैं तो नित्य, निर्विकार स्वरूप वाला हूँ, इसलिए मेरे यह धर्म नहीं हैं। जैसे रस्सी में सर्प त्रिकाल में भी नहीं है, वैसे ही अहंकार से देह पर्यन्त का जगत् त्रिकाल में भी मेरे भीतर नहीं हो सकता। मैं चैतन्यरूप हूँ इसलिए मुझमें जड़ता नहीं, मैं सत्यस्वरूप हूँ इसलिए मुझमें असत्य नहीं, मैं आनन्दरूप हूँ इसलिए मुझमें दुःख नहीं है, यह सब केवल अज्ञान से ही सत्य के समान प्रतीत होते हैं।

'जीवेतरो न स्पृष्टः, जीवोऽपि न स्पृष्ट इति चेन्न, जीवाभिमानेन क्षेत्राभिमानः शरीराभिमानेन जीवत्वम्' इत्यादि नारदपरिव्राजकोपनिषत् वाक्यों के अनुसार जीवेतर ब्रह्म उक्त दोषों से सम्पर्क नहीं रखता। देहाभिमान के कारण जीवत्व का अभिमान होने से जीव कर्तृत्वादि के संस्पर्श से बच नहीं पाता। महाकाश से घटाकाश के समान ही परमात्मा से जीवत्व का व्यवधान है।

इसीलिए यह हंस रूप प्राण उच्छ्वास-निश्वास के रूप में सोऽहं जपता हुआ निजस्वरूप को ही खोजता है। यह मान कर देहाभिमान व्यर्थ है, क्योंकि देहाभिमान का त्याग करने पर ही ब्रह्म होता है।

इस प्रकार की आत्म-स्थिति में उठने पर ही आनन्द के अनुभव की वृद्धि होती है। जब जाग्रत् हुई कुण्डलिनी शक्ति पंचतत्व और मन को वेध कर जड़-चेतन की ग्रन्थियों का उद्घाटन करती है, तब जिज्ञासु मुमुक्षु को उच्च भूमिकाओं का अनुभव होने लगता है और तभी उसमें आनन्द की तरंगें उद्वेलित होती हैं।

चैतन्यस्तबक का अर्थ ज्ञानरूपी गुलदस्ता है। विद्वानों ने सत्य, अहिंसा, अस्तेय, दया, आर्जव, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, परिमित आहार और बाह्याभ्यन्तर पवित्रता, यह दस प्रकार के यम तथा नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि—योग के इन अष्टांगों को माना है। कुछ विद्वान् सब जीवों को समान भाव से अथवा आत्म-भाव से देखने तथा देह और आत्मा के अन्तर का ज्ञान होने को ही ज्ञान का गुलदस्ता स्वीकार करते हैं। कुछ ज्ञानीजन प्रज्ञान ब्रह्म, अहंब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि और अयमात्मा ब्रह्म इन चार महावाक्यों के ज्ञान को ही ज्ञानस्तबक मानते है।

ऋतंभरा प्रज्ञा के उदय होने पर आविर्भूत होने वाली मधुप्रतीका प्रज्ञा के लिए भी चैतन्यस्तबक का संकेत समझा जा सकता है। चैतन्य का अभिप्राय मंत्र-चैतन्य से भी है, उसके अनुसार श्रीविद्या का मंत्र ही स्तबक और कुण्डलिनी शक्ति की जाग्रति से होने वाले दिव्य आनन्द का उद्वेलन ही स्रोत का झरना

समझना चाहिए। योगशिखोपनिषत् के अनुसार 'यदानुध्यायते मन्त्रं गात्रकम्पोऽथ जायते' अर्थात् 'जब मंत्र का जप किया जाय, तब शरीर कम्पन का प्राकट्य होता है।' उस कम्प में दिव्य आनन्द की तरंगें का ही अनुभव होता रहता है।

'योगचूड़ामण्युपनिषत्' के अनुसार—आधार चक्र चार दल का, स्वाधिष्ठान छः दल का, नाभि में दश दल का, हृदय में बारह दल का कमल और फिर सोलह दल का तथा भृकुटियों के मध्य में दो दल का चक्र है। 'सहस्रदल संख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथि' अर्थात् 'ब्रह्मरन्ध्र के महापथ में सहस्रदल कमल है। प्रथम चक्र आधार और दूसरा स्वाधिष्ठान है, यह योनि स्थान में दोनों के मध्य में स्थित एवं कामरूप कहलाता है। 'काम' संज्ञक चार दल का कमल गुदस्थान में है, उसी के मध्य सिद्धों द्वारा वन्दित 'काम' संज्ञक योनि है, जिसके मध्य में पश्चिमाभिमुख महालिंग विद्यमान है। तप्त स्वर्ण के समान चमकता हुआ, विद्युत्लहरी के समान चकाचौंध करता हुआ,त्रिकोण युक्त वह्नि का जो स्थान मेढ़ केनीचे है,वहाँ समाधि में विश्वतोमुख परमज्योति परिलक्षित होती है। उसे योगाभ्यास द्वारा देख लेने पर योगी आवागमन से छूट जाता है। इस प्रकार मंत्र चैतन्य युक्त योग-समाधि द्वारा परमज्योति के दर्शन मोक्ष प्रदान करने में समर्थ होती है।

श्रीविद्या के अक्षरों को चिन्तामणि के दाने और मन्त्र को चिन्तामणिमाल समझना चाहिए। देवी के लिए न कोई धनिक है, न कोई दरिद्री, फिर भी दरिद्र जिज्ञासु पर उनकी कृपा का आधिक्य स्वाभाविक है। क्योंकि वे निष्काम उपासकों को मोक्ष और सकाम उपासकों को इच्छित कामनाएँ प्रदान करने में समर्थ हैं। धनिक उन्हें प्रसन्न करने के लिए अनेक साधन सहज ही जुटा सकते हैं, परन्तु निर्धन के लिए साधनों का जुटा पाना

संभव नहीं होता और उसे भगवती की कृपा के लिए बिना साधन ही प्रयत्न करते होते हैं। इसीलिए भगवती की उन दरिद्र साधकों पर अधिक कृपा रहती है और यही कारण है कि ग्रन्थकार ने उन्हें दरिद्रियों के लिए चिन्तामणियों की माला कहा है।

मुरविपुवराह की दंष्ट्रा

मुरु नामक एक दैत्य था, जिसका वध करने के कारणविष्णु का नाम मुरारि हुआ था इसीलिए मुर राक्षस के शत्रु रूप में यहाँ वराह भगवान् का उल्लेख हुआ है। प्रसंग के अनुसारविष्णु ने वराह-रूप धारण कर पाताल में धँसी हुई धरती को अपने दाँतों से पकड़ कर निकाला और अपनी आधार शक्ति देकर उसे उसके अपने स्थान पर पुनः स्थापित किया था।

इसी प्रकार जब कुण्डलिनी स्वरूपा आधार शक्ति के जाग्रत् हो जाने पर जन्म-मरण रूप भवसागर में निमग्न हुए अज्ञानी मनुष्यों को ऊपर उठाती है। वराह भगवान् के बीजमंत्र 'हूँ' के प्रयोगसे जिस वाराही शक्ति का प्रादुर्भाव होता है,उसे ही वराह भगवान् के दांतों से उपमित किया गया है। क्योंकि वही शक्ति वराह के दाँतों के समान मनुष्यों का भवसागर से उद्धार करने में समर्थ होती है।

मूलाधार को पृथिवी तत्व का स्थान और चरण को पाताल तत्व का स्थान माना गया है। देहाध्यास में अध्यस्त जीव मूला-धार से जितना-जितना ऊपर उठता है, उतना-उतना ही उसका देहाध्यास घटता चला जाता है और जैसे ही सहस्रार में पहुँचता है, वैसे ही उसका अध्यास पूर्णरूप से नष्ट होजाता है। इसीलिए वाराही शक्ति का आश्रय लेना मुमुक्षु के लिए अत्यन्त श्रेयस्कर

समझा गया है। क्योंकि वह अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाली है।

'ईशावास्योपनिषत्' के अनुसार—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रतः॥

अर्थात्—'जो मनुष्य अविद्या की उपासना करते (उसे अपनाते) हैं, वे अज्ञानमय अन्धकार में पड़े रहते हैं और जो विद्या में मदमत्त हैं (अपनी विद्वता के आगे किसी को कुछ नहीं समझते) वे भी अन्धकार में ही जा गिरते हैं।' क्योंकि अविद्या या अयथार्थ विद्या में रत रहने के फल से यथार्थ विद्या की उपासना का फल सर्वथा भिन्न होता है।

इस प्रकार इस श्लोक के अन्त में वाराही शक्ति के आश्रय से देहाध्यास से निवृत्त होने और मोक्ष की प्राप्ति होने का प्रतिपादन हुआ है। इसलिए आत्मज्ञान के लिए वाराही शक्ति की उपासना करनी चाहिए।

त्वदन्यः पाणिभ्यामभयवरदो दैवतगण-
स्त्वमेका नैवासि प्रकटितवराभीत्यभिनया।
भयात्त्रातुं दातुं फलमपि च वांछासमधिकं
शरण्ये लोकानां तव हि चरणावेव निपुणौ ॥४

टीका—तुम्हारे अतिरिक्त अन्य सभी देवगण दोनों हाथों के अभिनय से अभय या वर प्रदान करते हैं, परन्तु एक तुम ही ऐसी हो जो अभय या वर प्रदान के समय हाथों से अभिनय

capable to relieve your devotees from all dangers and give them all that they desire.

नहीं करतीं। हे लोकों को शरण देने वाली भय से त्राण करने और इच्छित फल प्रदान करने में तुम्हारे चरण ही निपुण हैं ॥४॥

व्याख्या ..सभी देवता अपने हाथों से अभय-मुद्रा या वरद मुद्रा प्रदर्शित करते हुए अभय और वर प्रदान करते हैं। इसीलिए उनकी उन मुद्राओं वाले हाथों को अभय-हस्त और वरद-हस्त कहते हैं। परन्तु भगवती अपने चारों हाथों में इक्षुधनु, पंचबाण, अंकुश और पाश धारण किये रहती हैं, इसलिए अपने चरणों से ही अभय अथवा वर प्रदान किया करती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि भगवती गतिवान् हैं और उनकी गति में ही अभय और वर दोनों का समावेश है।

पहले भी बता चुके हैं कि गति के तीन अर्थ हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। वामन भगवान् दानवराज बलि पर जो कृपा की, वह चरणों से ही की। उन्होंने दो डग में ही उसकी सम्पूर्ण पृथिवी नाप ली और तीसरे डग के रूप में प्रार्थना की कि 'पदं तृतीयं कुरुशीर्ष्णि मे निजम्'अर्थात् 'तीसरा डग पूर्ण करने के लिए आप अपना चरण मेरे मस्तक पर रखिये।

ईशावास्योपनिषत् के अनुसार—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥

अर्थात्—वह परब्रह्म एकात्म भाव और एक मन से भी तीव्र गति वाले है, वे सब के आदि और सब के ज्ञाता हैं। परन्तु उन को देवगण भी जानने में समर्थ नहीं। वे अन्य गतिवानों को स्थिर रख कर भी स्वयं अतिक्रमण करते हैं। वायु आदि जल वर्षणादि क्रिया उन्हीं की शक्ति से करते हैं।

माण्डूक्योपनिषद् में 'सर्वं ॐ ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्' अर्थात् 'यह सम्पूर्ण जगत् ही ब्रह्म है, यह आत्मा भी ब्रह्म है, जो कि चार पाद वाला है।' इस प्रकार ब्रह्म या आत्मा के चार पाद (चरण) माने गए हैं। उन चारोंचरणों को जानने वाला आत्मज्ञानी आत्मा के द्वारा ही परब्रह्म में लीन होजाता है।

देवताओं द्वारा दो प्रकार का अनुग्रह किया जाना मानागया है—(१) अभय-प्रदान, और (२) वर-प्रदान। उनके प्रसन्न मुद्रा में अभय-हस्त और वरद हस्त लोक प्रसिद्ध हैं। साधक की साधना से प्रसन्न होकर वे हाथ को उठा कर जो कामना सिद्धि का आश्वासन देते हैं, उसी हस्त-संचालनादि क्रिया को अभिनय कहा जाता हैं। इस प्रकार का अभिनय देवताओं के अतिरिक्त गुरुजन आदि सम्मानीय और समर्थ पुरुष भी करते हुए देखे जाते हैं। उनका वह अभिनय अर्थात् मुद्रा ही कार्य-सिद्धि का विश्वास दिलाती है।

परन्तु भगवती वैसा अभिनय नहीं करती। उनकी हस्त-मुद्रा से यह अनुमान लगाना सरल नहीं होता कि वह प्रसन्न हैं या अप्रसन्न ? वह तो अपने उपासक को तत्काल फल प्रदान करने वाली हैं। क्योंकि भक्त में जैसे ही शरणागति की भावना का उदय होता है, वैसे ही देवी उसकी कामना पूर्ति में तत्पर हो जाती हैं। नारद पंचरात्र के अनुसार 'यस्या विज्ञानमात्रेण पराणां परमात्मनः' अर्थात् इसके जान लेने मात्र से ही परमात्मा की प्राप्ति होजाती है।

भय का मूल कारण देहाध्यास और संसार में आसक्ति है। उसका नाश भगवती के स्वरूप ज्ञान से अर्थात् ब्रह्मज्ञान सेसंभव

है। देव्युपनिषत् के अनुसार 'नमामि त्वामहं देवीं महाभय विनाशिनीम्' अर्थात् 'हे देवि ! तुम महाभय को नष्ट करने वाली हो, आपको मैं नमस्कार करता हूँ।'

सांसारिक भोगों की कामना से अथवा मोक्ष की कामना से भगवती की उपासना करने वालों को इच्छित की प्राप्ति के विषय में 'सरस्वतीरहस्योपनिषत्' में कहा है—

क्लीं यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम॥

अर्थात्-जिन वाणी स्वरूपा सरस्वती का उच्चारण प्रकट-अप्रकट वाणी वाले देवादि सम्पूर्ण जीव करते हैं और जो भगवती सर्व इच्छित पदार्थों को दुग्ध रूप में प्रदान करने वाली कामधेनु हैं, वे मेरी रक्षा करें।

इस प्रकार भगवती अभय देने वाली और सर्व कामनाओं की पूर्ति का वर प्रदान करने वाली हैं। उनके चरण सर्व सामर्थ्य से सम्पन्न हैं, जिनके द्वारा गति करती हुई देवी साधक को अभीष्ट प्रदान करती हैं। इससे ब्रह्मरूपिणी भगवती की साधना में तत्पर होना मुमुक्षु जिज्ञासु के लिए परम श्रेयस्कर सिद्ध होता है।

हरिस्त्वामाराध्य प्रणतजन सौभाग्यजननीं
पुरा नारी भूत्वा पुररिपुमपि क्षोभमनयत्।
स्मरोऽपि त्वां नत्वा रतिनयन लेह्येन वपुषा
मुनीनामप्यन्तः प्रभवति हि मोहाय महताम्॥५॥

After worshipping Thee, O the bestower of great luck to those who bow to you, Hari becoming a damsel disturbed the mind of Lord Shiva the enemy of Tripurasura.
The Kamdeva after bowing (propitiating) to you took the form fit for being touched by his wife Rati's eyes and greatly disturbed the peace of mind of great Munis.

टीका—पूर्वकाल में विष्णु ने तुम प्रणत पुरुषों के लिए सौभाग्य उत्पन्न करने वाली देवी की आराधना करके नारी (मोहनी) रूप धारण किया, जिसका त्रिपुरारि शिव का चित्त भी काम से क्षुभित होगया, और कामदेव भी तुम्हें नमस्कार करके ही अपनी पत्नी रति के नेत्रों द्वारा आकर्षित किये जाने वाले देह से महानात्मा मुनिजनों के अन्त:करण में भी मोह उत्पन्न करता है ॥५॥

व्याख्या—पौराणिक गाथा के अनुसार देवताओं और दैत्यों ने मिलकर समुद्र-मंथन किया, जिससे अमृत घट का प्राकट्य् हुआ। उसे देख कर दैत्यों ने उस अमृत-घट को छीनने की चेष्टा की, तभी उन्हें एक अद्भूत रूपकान्ति वाली स्त्री आती हुई दिखाई दी। उसके रूपजाल में फंसे हुए दैत्यगण ने वह अमृत-घट उस मोहिनी को दे दिया। तब मोहिनी रूपधारी विष्णु ने सम्पूर्ण अमृत देवताओं को पिला दिया। राहु ने धोखे से देवरूप में अमृत-पान करने की चेष्टा की तो मोहिनी ने सुदर्शन चक्र से उसका शिर काट डाला, परन्तु अमृत के प्रभाव से उसके दो खण्ड राहु-केतु होगए।

शिवजी ने विष्णु के मोहिनी रूप की प्रशंसा सुनी तो उन्होंने विष्णु से उस रूप के दर्शन कराने की प्रार्थना की, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। भागवत् के अनुसार विष्णु का वह मोहिनी रूप संसार को मोहित कर रहा था—

तामन्वगच्छद्भगवान्भव: प्रमुषितेन्द्रिय: ।
कामस्य च वशं नीत: करेणुमिव यूथप: ॥

अर्थात्—शिवजी अपना मन-हरण होने के कारण काम के वश में होकर उसके पीछे ऐसे दौड़ पड़े, जैसे कि काम-विवश हाथी हथिनी के पीछे दौड़ता है।

उक्त श्लोक में ग्रन्थकार का कहना है कि विष्णु को जिस मोहिनी रूप की प्राप्ति हुई वह भगवती की आराधना से ही हुई थी। देव्युपनिषत् में देवी स्वयं कहती हैं—

अहं सोमं त्वष्टारं पूषणं भगं दधाम्यहम्।
विष्णुमुरुक्रमं ब्रह्माणमुत प्रजापतिं दधामि ॥

अर्थात्—मैं ही सोम, त्वष्टा, पूषा और भग को धारण करती हूँ तथा त्रिलोकी को आक्रान्त करने के उद्देश्य से पदक्षेप करने वाले विष्णु, ब्रह्मा और प्रजापति के धारण करने वाली हूँ।

'देवी ह्येकाऽग्र आसीत्, सैव जगदण्डमसृजत, कामकलेति विज्ञायते, शृंगार कलेति विज्ञायते।' इस बह्वृचोपनिषत् वाक्य के अनुसार देवी ने ब्रह्माण्ड उत्पन्न किया और संसार की उत्पत्ति से पहले वही थी। वही कामकला और शृंगार कला के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार कामदेव भी देवी की ही एक कला है और जब भगवती ज्ञानियों को भी मोहित करना चाहती हैं, तब उनके हृदय को क्षुभित कर देती है। परन्तु यह क्षोभ उन्हीं मुनियों के चित्त में उत्पन्न हो सकता है, जिनका मन सांसारिक विषयों से पूर्णरूपेण विरक्त नहीं होगया है।

योगशास्त्रों के अनुसार समाधि दो प्रकार की है—सविकल्प और निर्विकल्प। दृश्यानुविद्ध और शब्दानुविद्ध के भेद से सविकल्प समाधि के भी दो प्रकार होते हैं। सरस्वती रहस्योपनिषत् के अनुसार दृश्यानुविद्ध समाधि का यह रूप है—

कामाद्याश्चित्तगा दृश्यास्तत्साक्षित्वेन चेतनम्।
ध्यायेद्दृश्यानुविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ॥

अर्थात्—चित्त में जिन कामादि विकारों की उत्पत्ति होती है, वे सभी विकार दृश्य हैं और चेतन आत्मा उनका साक्षी है। इसी को दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि कहा गया है।

इस प्रकार देवी मोक्ष का कारण तो है ही, परन्तु भ्रान्तचित्त वालों के लिए बन्ध का कारण भी है, जैसे कि 'संसार बन्ध हेतुश्च सैव सर्वेश्वरी' अर्थात् सर्वेश्वरी भगवती ही संसार-बन्ध की भी हेतु है और इसलिए—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥

अर्थात्—वह देवी भगवती ही ज्ञानियों के चित्तों में बलपूर्वक आकर्षण उत्पन्न कर उन्हें महामाया-मोह में डाल देती है।

परन्तु, 'सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी' अर्थात् 'वह विद्यास्वरूपा भगवती ही सनातन काल से परम मोक्ष की हेतुभूता रही आई है। इसलिए वही जब प्रसन्न होती है तब वरदायिनी और मोक्ष की भी कारणभूता होती है, यथा—

सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये।

इस प्रकार ग्रन्थकार द्वारा भगवती को 'प्रणतजन सौभाग्यजननी' कहना सर्वथा युक्त है। जो लोग देवी की शरण में जाते हैं, उनके लिए सब प्रकार का सौभाग्य प्राप्त होना असंभव नहीं है।

धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी पंचविशिखा
वसन्तः सामन्तो मलयमरुदायोधनरथः।
तथाऽप्येकः सर्वं हिमगिरिसुते कामपि कृपा-
मपांगात्ते लब्ध्वा जगदिदमनंगो विजयते ॥६॥

(अं) कएईलह्रीं, हसकहलह्रीं सकलह्रीं = 16.

टीका—पुष्पों से निर्मित धनुष, भ्रमरमयी उसकी डोरी, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध यह पाँचों विषय उसके बाण, बसन्त ऋतु उसका वीर सामन्त, मलयागिरि से प्रवाहमान् शीतल-मन्द-सुगन्धित वायु उसका संग्रामोपयोगी रथ और वह स्वयं अनंग अर्थात् शरीर-रहित, ऐसा यह कामदेव अपने आयुधादि को लेकर अकेला ही सम्पूर्ण संसार को जीत लेता है। हे हिमगिरि-सुते ! उसकी यह सामर्थ्य तुम्हारी थोड़ी-सी ही कृपा-कटाक्ष का फल है ।।६।।

व्याख्या—इस श्लोक में मूलविद्या को प्रकट किया गया है। काम अर्थात् ककार, योनि अर्थात् एकार कामकला अर्थात् ईकार, वज्रपाणि का लकार, गुहा का ह्रींकार, हंस का हकार और सकार, मातरिश्वा का ककार, अभ्र का हकार, इन्द्र का लकार, पुनर्गुहा का ह्रींकार, सकला का सकार, ककार और लकार तथा माया का ह्रींकार यह पुरुची विश्वमाता और विशिष्ट रूप इस आदि मूल विद्या की आत्मा ओंकार है।

त्रिपुरोपनिषत् के अनुसार—

षष्ठं सप्तममथ वह्निसारथिमस्या मूलत्रिकमादेशयन्तः ।
कथ्य कविं कल्पकं काममीशं तुष्टुवांसो अमृतत्वं भजन्ते ।।

अर्थात्—मूल विद्या का छठा अक्षर 'ह' शिवबीज, सातवाँ 'स' शक्तिबीज, वह्नि सारथि अर्थात् 'क' कामेश बीज और शिवसम्पुटित शक्तिबीज है। इसी प्रकार इस आदि विद्या के 'ह-स-क' यह तीन मूल अक्षर वाणी के पाँसु रूप में जप करते हुए शब्द-स्पर्श-हीन, कालदर्शी, सर्वज्ञ को अपने अतिरिक्त और कुछ नहीं, ऐसा जानकर, व्यष्टि-समष्टि रूप प्रपंच कल्पक या अपने अतिरिक्त जीव,शिव, तत्कल्पनीय, व्यष्टि-समष्टि प्रपंच

समूह नही, यह जानते हुए कामेश्वर ईश्वर को तुष्ट करते हुए योगीजन अमृतत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए ऐसे रूप धारण करने वाली भगवती का ध्यान करके ही योगी अपने-अपने स्वभाव के अनुसार फल प्राप्त करते है। यह देवी 'पुरमेकादशद्वारम्' श्रुति के अनुसार पुरपद और उसके कार्यकलाप रूप तथा 'ह-स-क' यह हन्त्रीमुख सार रूप को धारण करती है। इस प्रकार यह स्व-अविद्यापद, अ रोप, आधार एव ईश्वर रूपधारिणी है, जिस साधक का मन जिस देवता में लगे, उसी के आश्रय से भगवती की साधना के कारण चित्तशुद्धि द्वारा वह कृतकृत्य होजाता है। इसका अभिप्राय है कि रवि-चन्द्र के मण्डल से उत्पन्न, स्तनबिम्ब, और एक मुख नीचे की ओर, इस प्रकार उपलक्षित सर्वांग सुन्दरी को देहत्रय रूप गुहा में स्थित ईश्वर की कला कामरूपा चिद्‌शक्ति का ध्यान करके उपासक 'जायते कामरूपश्य 'काम्य: अर्थात् अपनी इच्छाओं को पूर्ण करता हुआ अभीष्ट कामरूप को प्राप्त होता है।

इस श्लोक में एक अन्तर्कथा भी है—दक्षप्रजापति की पुत्री सती का विवाह शिव के साथ हुआ था। बाद में दक्ष और शिव में मनमुटाव होगया। इसलिए उसने अपने यज्ञ में शिव को नहीं बुलाया और बिना बुलाये आई हुई सती का निरादार किया, जिससे क्षुब्ध होकर सती ने यज्ञ-मण्डप में ही अपना शरीर त्याग दिया। यह समाचार सुनकर क्रोधित हुए शिव ने दक्ष का यज्ञ विध्वंस कर दिया।

सती ने पर्वतराज हिमालय के यहाँ जन्म लिया और वह शिव को वररूप में प्राप्त करने के लिए घोर तप करने लगीं।

उधर शिव ने विरक्त होकर समाधि लगा ली तो देवताओं ने कामदेव को उनकी समाधि भंग करने के लिए भेजा। उसनेशिव के पास पहुँच कर वसन्त ऋतु उत्पन्न कर दी। उस समय मलय मारुत मन्द-मन्द चलने लगा, सब ओर सुन्दर सुगन्धित पुष्प खिल गए, भ्रमर गुंजारने लगे। ऐसे मोहक वातावरण को उत्पन्न कर कामदेव ने अपने पंचशर का प्रयोग किया, जिससे शिव की समाधि भंग होगई।

मन में विकार उत्पन्न हुआ देख कर शिव ने अपना तृतीय नेत्र—ज्ञाननेत्र खोला और कामदेव को ज्ञानाग्नि से भस्म कर डाला। कामदेव की पत्नी रतिने पार्वती के पास जाकर अपनी व्यथा का वर्णन किया, जिससे द्रवित मन भगवती ने उसेपुनर्जीवन प्रदान कर दिया। तभी से कामदेव शरीर-रहित होने के कारण अनंग कहलाता हुआ कामी पुरुषों को बात की बात में जीत लेता है।

परन्तु काम-विकार की उत्पत्ति समाधि के लिए बहुत बड़ी बाधा है क्योंकि—

> सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भवति योगतः।
> तथाऽऽत्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते॥
> यत् समत्वं तयोरत्र जीवात्म परमात्मनोः।
> समस्त नष्ट संकल्पः समाधिरभिधीयते॥

—सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत् २।१४, १६

अर्थात्—जैसे जल में मिल कर नमक उसी में घुलमिल जाता है, वैसे ही आत्मा में मन के विलीन होने की अवस्था समाधि कहलाती है। समाधि उस अवस्था का नाम है जिसमें

जीवात्मा का परमात्मा से समत्व होने पर सभी संकल्प मिट जाते हैं।

इस प्रकार की समाधि तभी हो सकती है, जब कि मन में कोई कामना, कोई विकार न रहे और कामना का नाश ज्ञान के उत्पन्न होने पर ही संभव है। ग्रन्थकार ने कामदेव को सर्व संसार का विजेता कहा है, उसका अभिप्राय यही है कि कामदेव का जीतना अत्यन्त कठिन है, मन की चंचलता से वह और भी प्रबल होजाता है, इसलिए साधक को अत्यन्य सावधानी पूर्वक ईश्वर में चित्त लगाना चाहिए और सदा यह प्रयत्न करते रहना चाहिए कि मन किसी अन्य विषय की ओर न दौड़ जाय।

क्वणत्कांचीदामा करिकलभकुम्भस्तनभरा
परिक्षीणा मध्ये परिणत शरच्चन्द्रवदना ।
धनुर्बाणान् पाशं सृणिमपि दधाना करतलैः
पुरस्तादास्तां नः पुरमथितुराहो पुरुषिका ॥७॥

टीका—क्वणित् शब्दयुक्त घुँघरुओं की कटि-मेखला वाली, गजशावक के मस्तक पर उभरे हुए कुम्भ-समान स्तनों के भार से झुकी हुई, मध्य भाग में पतली, शरदपूर्णिमा के चन्द्र जैसे मुख वाली, हाथों में धनुष, बाण, पाश और अकुश धारिणी तथा पुररिपु शिव की प्रिया पुरुषिका हमारे ध्यान में प्रकट हों ॥७॥

व्याख्या—त्रिपुरारि शिव का नाम है। पुराणों के अनुसार उन्होंने त्रिपुरासुर के तीन पुरों को नष्ट किया था, इसलिए उन्हें त्रिपुरारि या पुररिपु कहते हैं। कुछ विद्वानों के मत में त्रिपुर का अर्थ जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति यह तीन अवस्थाएँ हैं और ब्रह्म इन

तीनों से परे होने के कारण त्रिपुरारि कहला सकता है। तीनों अवस्थाओं का लय होजाना ही ब्रह्मलीनता है, जिसे मोक्ष भी कहते हैं।

त्रिपुरोपनिषत् में तीन पुरों की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

तिस्रः पुरस्त्रिपथा विश्वचर्षणा अत्राकथा अक्षराः सन्निविष्टाः ।
अधिष्ठायैना अजरा पुराणी महत्तरा महिमा देवतानाम् ॥

अर्थात्—अपनी अज्ञ दृष्टि द्वारा कल्पित व्यष्टि-समष्टि के भेद वाले स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण देह रूप तीन पुर हैं और जो देव-यान, पितृयान आदि के भेद से कर्म, उपासना और ज्ञान काण्ड रूप में ज्ञान, विज्ञान, सम्यग्ज्ञान के भेद से कल्पित तीन मार्ग तथा 'अकथादि श्रीपीठ' इत्यादि श्रुति के अनुरोध से इस श्रीचक्र में जो 'अ' से लेकर 'क्ष' पर्यन्त के अक्षर सन्निविष्ट हैं, इन पुरों, इन मार्गों, इन अक्षरों को जीवेश प्रत्येक परात्मा से अधिष्ठित करके जो महा महिमामयी अर्थात् सृष्टि-निर्माण की सामर्थ्य-रूपिणी स्थूलादि तीन देहों से विलक्षण, जरा-रहित, महती चिरन्तन चित्-शक्ति सर्वोत्कृष्ण रूप से विराजमान है, वही सर्वोत्कृष्ट है।

इस प्रकार जो निष्काम कर्मयोगी श्रीचक्र को अपने जीवन पर्यन्त अपने वर्ण, आश्रम के अनुरोध से क्षीरादि के द्वारा तृप्त करते हुए काल-यापन किया करते हैं, वे शरीर के समाप्त होने पर विशाल स्वर्गपृष्ठ अर्थात् श्रीपुर में ज्ञानाभ्यास करते हुए प्रलयपर्यन्त निवास करते हैं। और फिर त्रिपुररूप परमधाम में रहते हुए कृत-कृत्य होजाते हैं। इस प्रकार चित्-शक्ति के ध्यान में साधक की कृतकृत्यता कही गई है।

सुधासिन्धोऽर्मध्ये सुरविटपिवाटी परिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।
शिवाऽऽकारे मंचे परमशिव पर्यंक निलयां
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम् ॥८॥

टीका—अमृत के समुद्र मध्य, कल्पवृक्षों की वाटिका से परिवृत मणिद्वीप में, नीप वृक्षों के उपवन मध्य चिन्तामणियों से निर्मित गृह में, शिवाकार या त्रिकोणाकार मंच पर, परम-शिव की शय्या पर विराजमान हे चिन्दानन्दलहरी स्वरूपिणी! जो कोई विरले पुरुष तुम्हारा भजन करते हैं, वे धन्य हैं ॥८॥

व्याख्या—भगवती के भजन से चिदानन्द का लाभ अनुभव करने में सभी उपासक समर्थ नहीं होते। क्योंकि मन चंचल होता है, उसे कोई-कोई ही अपने वश में कर पाता है और जो अपने मन को वश में करने में समर्थ होता है, वह चिदानन्द के आवेशों का अनुभव सहज ही कर सकता है।

परन्तु मन को वश में करना बड़ा कठिन कार्य है। इसमें सफलता उसी साधक को प्राप्त होती है, जिस पर स्वयं भगवती की कृपा हो और भगवती की कृपा उसी को प्राप्त होती है, जो अनेक कामनाओं से शून्य हो। क्योंकि त्रिपुरोपनिषद् के अनुसार 'सृण्येव सितया विश्वचर्षणिः पाशेनैव प्रतिबध्नात्यभीकान्' अर्थात् 'विषयासक्त पुरुषों को भगवती अज्ञान पाशों में बाँध कर संसार के महागर्त में धकेल देती है।'

इस प्रकार उक्त श्लोक का 'कतिचन' शब्द इसी अभिप्राय को प्रकट करता है कि मन को जीतने में कुछ साधक ही समर्थ

होते हैं। इसलिए श्रेय चाहने वाले पुरुषों को अपने मन पर अधिकार करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

हमारे शास्त्रकारों ने मन की शक्ति से सम्पूर्ण संसार का सृजन होना सिद्ध किया है। यदि अपनी मनन शक्ति को काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, चिन्ता, क्लेश, कलह, ईर्ष्या, द्वेष, राग या दुःख आदि में लगाये रहें तो वह कभी भी उत्कर्ष को प्राप्त नहीं होगी वरन् पतन के गर्त में डालती जायगी। इसके विपरीत, यदि उस शक्ति को सत्य-व्रत धारण में लगादें तो कामादि सभी विकार एक-एक कर दूर होते चले जाँयगे और फिर सुख, शान्ति और आनन्द की निरन्तर वर्षा होने लगेगी वैसी अवस्था होने पर हो मोक्ष की प्राप्ति संभव होती है। इसीलिए कहा है 'वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठा मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे माप्रहासीरनेनाधी तेनाहोरात्रात्संदधाम्यृतं वदिष्यामि।' अर्थात 'मेरी वाणी मन में प्रतिष्ठित हो, मन वाणी में प्रतिष्ठित हो। हे स्वप्रकाशात्म! तुम मेरे समक्ष प्रकट हो जाओ। हे वाणी और मन! तुम दोनों ही मेरे वेदज्ञान के आश्रय हो, अतः मेरे वेदज्ञान को नष्ट न होने दो।'

छान्दोग्योपनिषत् में मन की उपासना का उपदेश देते हुए कहा है कि 'मन ही आत्मा है, मन ही लोक और मन ही ब्रह्म है, इसलिए मन की उपासना करो।' इस कथन का अभिप्राय भी मन को स्वच्छ रखने और आत्मज्ञान की ओर प्रेरित करने से है। क्योंकि उसकी उपासना से मन की गति पर्यन्त स्वेच्छा गति की प्राप्ति होना कहा है।

योग-दर्शन में मन की एकाग्रता में बाधक नौ प्रकार के विघ्न-विक्षेपों का वर्णन हुआ है, यथा—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरति भ्रान्तिदर्शनालब्ध-भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।

अर्थात्—'व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति-दर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनिवस्थितत्व यह नौ चित्त-विक्षेप हैं।' इनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है।

(१) व्याधि—शरीर में रोग, इन्द्रिय-शैथिल्य और चित्त-भ्रम आदि।

(२) स्त्यान—असमर्थता, अकर्मण्यता, कार्य-योग्य उत्साह या सामर्थ्य की कमी।

(३) संशय—योगविद्या की यथार्थता अथवा अपने प्रयत्न की सफलता में संदेह।

(४) प्रमाद—योग-साधन में उपेक्षा, नियमित कार्य का न करना या अधूरा छोड़ देना।

(५) आलस्य—शरीर में तमोगुण की वृद्धि से किसी कार्य के न करने की इच्छा, सुस्ती या शरीर में भारीपन ।

(६) अविरति—विषयों की ओर आकर्षण, आसक्ति और वैराग्य का अभाव।

(७) भ्रान्ति-दर्शन—अध्यात्म में भ्रान्ति, साधन के यथार्थ ज्ञान का अभाव अथवा साधन में विश्वास का अभाव।

(८) अलब्ध भूमिकत्व—साधन करने पर भी साधक के स्तर की अप्राप्ति अथवा साधना के मध्य में मन का वेग रुक जाना या मन का उचट जाना।

(९) अनवस्थितत्व—चित्त की अस्थिरता, भूमिका तक पहुँच कर भी अस्थिरता के कारण मनोभूमि का स्थिर न रहना।

उक्त विक्षेपों के साथ दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास इन पाँच विघ्नों का रहना भी कहा है। इनमें दुःख आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। कामादि विकारों या रोगों के कारण मन, इन्द्रिय और शरीर में पीड़ा का होना आध्यात्मिक दुःख सिंह-सर्पादि से प्राप्त पीड़ा आधिभौतिक और अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, अग्नि आदि से प्राप्त होने वाला दैवीविपत्ति आधिदैविक दुःख है।

इच्छाओं की पूर्ति न होना दौर्मनस्य है। शरीर के अंगावयवों में कम्पन अंगमेजयत्व या अंग-अजय त्व कहलाता है। श्वास पर नियन्त्रण न रहना श्वास रूप विघ्न और श्वास के अनियन्त्रण के कारण आन्तरिक वायु का नासिका द्वारा बाहर निकल जाना प्रश्वासरूप विघ्न माना गया है। यह सभीविक्षेप-विघ्न उन्हीं को होते हैं जिनका मन चंचल होता है। इसीलिए उन्हें दूर करने का उपाय यह बताया—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः ।

अर्थात्—उन विक्षेप-विघ्न के प्रतिषेध के लिए एकतत्व का अभ्यास करना चाहिए।

विषयों से मन हटाने का एक सरल उपाय यह भी है कि सुखी, दुःखी पुण्यात्मा, पापात्मा सब प्रकार के प्राणियों के साथ मित्रता, दया और प्रसन्नता का व्यवहार रखे। यह योगदर्शन का मत है।

मन की स्थिरता के विषय में प्राणायाम के महत्व परप्रकाश डालते हुए कहा है कि 'चले वाते चलच्चित्तं निश्चले

निश्चलं भवेत्' अर्थात् 'प्राणवायु के चलने से मन चंचल रहता और प्राणवायु के निश्चय होने पर मन निश्चल होजाता है ।

मन को वश में रखने के लिए सतत अभ्यास की आवश्यकता है । अभ्यास से बड़े से बड़े एवं असंभव कार्य भी संभव होजाते हैं। अभ्यास और वैराग्य का मिश्रित प्रयत्न चित्तवृत्तियों के निरोध में पूर्ण सहायक सिद्ध होता है । इसीलिए उक्त श्लोक में ग्रन्थकार ने अत्यन्त तन्मयता पूर्वक भगवती का ध्यान करने की ओर साधका ध्यान आकर्षित किया है ।

चिदानन्दलहरी के विराजमान होने के स्थान पर भी शंकर भगवत्पाद ने प्रकाश डाला है । सुधा के समुद्र में रहने का अभिप्राय श्रद्धा-विश्वास के गहन समुद्र में निवास करना है । क्योंकि श्रद्धा और विश्वास को ही अमृत माना गया है, क्योंकि देवता ही अमर हैं, वे—

न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येत देवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ।

—छान्दोग्य ३।६।१

अर्थात्—देवता न तो खाते हैं, न पीते हैं, केवल अमृत को देख कर ही तृप्त रहते हैं ।

ब्रह्मविद्योपनिषत् में ब्रह्म और आत्मा का अभेद प्रदर्शित करते हुए उसे आनन्द अमृत स्वरूप कहा है और वह अमृत भी कैसा 'परामृतोऽस्म्यहं' अर्थात् मैं परम अमृत हूँ' कह कर दिव्य अमृत का व्याख्यान किया है । सीतोपनिषत् के अनुसार—

सोमात्मिका ओषधीनां प्रभवति कल्पवृक्षपुष्पफललता गुल्मात्मिका औषधभेषजात्मिका अमृतरूपा देवानां महस्तोम फलप्रदा

अमृतेन तृप्ति जनयन्तीं देवानामन्नेन पशूनां तृणेन तत्तज्जीवानाम् ।

अर्थात्—वे भगवती चन्द्ररूपिणी होकर औषधियों को पुष्ट करती है। वे कल्पवृक्ष, लता, गुल्म पुष्प, पत्र, फल और औषधि-महौषधियों के स्वरूप को प्रकट करती हैं। वे अमृत-स्वरूपा भगवती ही देवताओं को महस्तोम यज्ञ का फल प्रदान करती हैं। तृण द्वारा तृणजीवियों को, अन्न द्वारा मनुष्यादि को और अमृत द्वारा देवताओं को तृप्त करती हैं।

कुण्डिकोपनिषद् की उक्ति है कि ज्ञानी संन्यासी सम्पूर्ण जगत् के हित की भावना मन से करे। वह ऐसा जाने कि आकाश से वायु, वायु से ज्योति, ज्योति से जल और जल से पृथिवी, इन पंचभूतों में जो ब्रह्म व्याप्त है, उसे मैं प्राप्त होगया हूँ और—

मय्यखण्ड सुखाम्भोधौ बहुधा विश्ववीचयः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात् ॥

अर्थात्—मैं अखण्ड सुख का समुद्र रूप हूँ, मेरे मध्य बहुत-सी लहरें माया रूपी वायु के द्वारा उत्पन्न होकर विलीन होजाती हैं।

इस प्रकार उक्त श्लोक में सुधा के सिन्धु रूप में दी गई उपमा का तात्पर्य यही समझा जाता है कि भगवती का उपासक सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर उनकी शरण में जाता है, तब भगवती उसे अमृतत्व अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति करा सकती हैं। परन्तु मोक्ष-प्राप्ति के योग्य सभी उपासक नहीं होते, उनमें से

अनेक तो मार्ग में ही उपासना को छोड़ बैठते हैं। वे लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ नहीं होते।

अनेक उपासक आनन्दावेशों की अनुभूति के स्तर तक पहुँच कर अपनी साधना को खो बैठते हैं। उनका चंचल मन किसी प्रकार का व्यामोह प्राप्त होते ही साधना से विमुख हो जाता है। तब उनकी वह साधना व्यर्थ हो जाती है और कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि वैसे लोग पहिले से अधिक हीन अवस्था में पहुँच जाते हैं।

कुछ साधक साधना के मार्ग में बहुत आगे तक बढ़ जाते हैं और तब सहसा उनके अनुष्ठान में कोई बाधा उत्पन्न होजाती है और लगभग अन्तिम स्तर पर पहुँच कर भी मार्ग-भ्रष्ट होते हैं। यह अवस्था उसे दुर्गति-पथ पर डाल देती है।

इस प्रकार बहुत-से साधक अपने मार्ग से विमुख हो जाते हैं। उनकी उस विमुखता में कभी-कभी परवशता भी होती है। इसीलिए शंकर भगवत्पाद ने विरले मनुष्यों को ही भजन करके धन्य होने वाला कहा है।

कुछ विद्वानों के मत में उक्त श्लोक का यह अभिप्राय भी है कि भगवती के सब ओर अमृत का समुद्र लहरा रहा है, उसमें जो डुबकी लगाता है, वह अमृतस्वरूप होजाता है। परन्तु उस अमृत-ससुद्र तक पहुँचना कोई सरल कार्य नहीं। अत्यन्त परिश्रम (निष्काम साधना) से ही वहाँ पहुँचा जा सकता है। इसलिए कोई विरला ही वहाँ तक पहुँच पाता है। जो उस समुद्र में डुबकी लगा लेता है, वह उसे पार कर सके तो कल्पवृक्ष की बाटिका अर्थात् सम्पूर्ण काम्य पदार्थों के कोषागारों तक पहुँच

सकता है। उन कोषागारों के मध्य धन-रत्नादि भरे पड़े हैं। यदि साधक उन काम्य पदार्थों और धन-रत्नादि के लोभ में पड़ जाय तो भगवती की साधना से विमुख होजाता है। यदि उनके प्रलोभनों में न पड़े तो आगे बढ़ने पर नीप वृक्षों का उपवन मिलता है, जो कि साधन के लिए एक भुलावा मात्र हो सकता है। विज्ञ साधक उससे भी उदासीन रहता है तब संन्यासोपनिषद् की यह पंक्तियां कार्यरूप में परिणत हो सकती हैं—

संकल्पपादपं तृष्णालतं छित्वा मनोवनम्।
विततां भुवमासाद्य विहरामि यथा सुखम्॥

अर्थात्—संकल्परूपी वृक्षों और तृष्णारूपी लताओं को काट कर मनरूपी वन की विस्तृत भूमि में सुखपूर्वक विहार करता हूँ।

अब जो चिन्तामणियों से निर्मित गृह आता है, उसी में भगवती का त्रिकोणाकार मंच पर स्थित परमशिव के पर्यंक पर चिदानन्दलहरीरूप में विराजमान होना कहा है। वह गृह भगवती के अपने गुण रूप चिन्तामणियों से ही बना है। नारद-परिव्राजकोपनिषद् में इसका स्पष्ट उल्लेख है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥

अर्थात्—उन जिज्ञासुओं ने ध्यान करके अपने गुणों से आवृत एवं स्वरूपभूत अचिन्त्य शक्ति से एकाकी रह कर ही सम्पूर्ण कारणों को अपने अधीन रखते हैं।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत यह पाँच अवस्थाएँ हैं। इनमें से जाग्रत् आदि चार अवस्थाएँ मंच के पाये

और पाँचवीं तुरीयातीत अवस्था ही शिव-पर्यंक है। विद्वानों ने पर्यंक और आसन को एक ही माना है और मण्डल ब्राह्मणोपनिषत् के अनुसार 'निश्चयज्ञानमासनम्' अर्थात् 'निश्चय ज्ञान ही आसन है' और 'मैं शुद्ध अद्वैत ब्रह्म हूँ' ऐसे निश्चयज्ञान से संपूर्ण वासनाएँ नष्ट होजाती हैं और तब 'सर्वपरिपूर्णतुरीयातीतब्रह्मभूतो योगी भवति' अर्थात् 'वह योगी सब प्रकार परिपूर्ण होकर तुरीयातीत अवस्था में ब्रह्मरूप होजाता है।

ब्रह्म चिदानन्दस्वरूप है, इसलिये उसकी शक्ति भी चिदानंद स्वरूपा है। तेजोविन्दु उपनिषद् के अनुसार—

केवलं तुर्यरूपोऽस्मि तुर्यातीतोऽस्मि केवलः।
सदा चैतन्य रूपोऽस्मि चिदानन्दमयोऽस्म्यहम् ॥

अर्थात्—मैं केवल तुर्यरूप, केवल तुर्यातीतरूप, सदा चैतन्यरूप और चिदानन्दमय हूं।

इस प्रकार उस चिदानन्दमय ब्रह्म से उद्भूत आवेश रूप लहरें ही शांभवी शक्ति है और इस श्लोक में उसी की उत्कृष्ट उपासना की प्रेरणा दी गई है।

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि ॥९॥

टीका—पृथिवी तत्व और जल तत्व को मूलाधार में, स्वाधिष्ठान में स्थित अग्नितत्व को मणिपूर में, वायु तत्व को हृदय

में, आकाश तत्व को ऊपर विशुद्ध चक्र में और मन को भी भ्रू मध्य में—इस प्रकार सर्व कुलपथ अर्थात् शक्ति-मार्ग को वेध कर सहस्रार पद्म में तू अपने पति के साथ विहार करती है ।६।

व्याख्या—इस श्लोक में कुण्डलिनी शक्ति का षट्चक्र-वेध के सहित आरोहण कहा है । षट्चक्र एक प्रकार की सूक्ष्म ग्रन्थियाँ हैं, इनकी आकृति फूलों की पंखुड़ियों के समान होती है । इनके जो पृथक्-पृथक् कोश निकले रहते हैं, उन्हें पद्मदल कहते हैं ।

इन चक्रों की आकृति पृथक्-पृथक् होती है, इन्हीं आकृतियों को चक्र-यन्त्र कहते हैं । इनके नाम मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूर चक्र, अनाहत चक्र विशुद्ध चक्र और आज्ञा चक्र हैं । मूलाधार चक्र का स्थान जननेन्द्रिय से दो अंगुल ऊपर और गुदा से दो अंगुल नीचे है । इस चक्र के चार दल हैं जो कि लाल वर्ण के हैं, यह वर्ण वं शं षं सं कहलाते हैं । इसका तत्व पृथिवी और बीज लं है । इसके अधिपति ब्रह्मा माने जाते हैं । इस चक्र का वेध होने पर सब प्रकार की प्रतिभाओं के साथ सर्व शास्त्र ज्ञान का लाभ प्राप्त हो सकता है ।

स्वाधिष्ठान चक्र सुषुम्ना के अन्तर्गत चित्रणी नाड़ी में मूलाधार चक्र के ऊपर पेडू पर रहता है । यह विद्युत के समान प्रकाशमान चक्र सिन्दूर जैसे वर्ण और छः दल का है । बं भं मं यं रं लं उन दलों के वर्ण हैं । इस चक्र के अधिपति नीलवर्ण वाले विष्णु हैं । इसकी सिद्धि से अहंकारादि विकारों का नाश होता है ।

मणिपूर चक्र स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर नाभि मूल में रहता है । मेघ के समान नीले वर्ण के इस चक्र के दश दल हैं, जिनके

वर्ण डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं हैं। इस बीज के प्रतिपाद्य देव चतुर्भुज अग्नि हैं, जिनका वर्ण लाल है तथा अधिपति रुद्र हैं। इसके सिद्ध होने पर सृष्टि, पालन, संहार की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है।

अनाहत चक्र मणिपूर चक्र के ऊपर हृदय में स्थित रहता है इसके अरुण वर्ण के बारह दल होते हैं, जिनके वर्ण कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं हैं। इसका तत्व वायु और बीज य है। इस चक्र के अधिपति 'ईशान' देव हैं। इस चक्र में स्वयं ही अनाहत नाद की ध्वनि होती रहती है। यदि उपासना सकाम हो तो इससे भौतिक उपलब्धियाँ और निष्काम हो तो योग-सिद्धि और परकाया-प्रवेश की सामर्थ्य प्राप्त हो सकती है।

विशुद्ध चक्र अनाहत चक्र के ऊपर कण्ठ में होता है। इसके धूम्र वर्ण के सोलह दल होते हैं, जिनके वर्ण अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः हैं। इस चक्र के मध्य में पूर्ण चन्द्रमा के समान गोल आकाश मण्डल है इसका देवता आकाश और बीज 'हं' है। इसके सिद्ध होने पर ज्ञान के स्रोत खुल जाते और मन में आनन्द का प्रवाह दौड़ने लगता है।

आज्ञा चक्र भ्रू के मध्य स्थित है। इसके दो दल हं क्षं वर्ण के तथा श्वेत रंग के हैं। इसका तत्व महः और बीज प्रणव है। इसके अधिपति श्वेत वर्ण वाले शिव हैं। इसकी सिद्धि से साधक को सब सामर्थ्यों की प्राप्ति होती है।

षट्चक्र-वेध में ध्यान-साधना प्रमुख है। सर्व प्रथम मस्तिष्क मध्य स्थिति त्रिकुटी में तेजस्वरप ज्योति का बार-बार ध्यान करना ही उसकी अभ्यास-सिद्धि है। त्रिकुटी के पश्चात् आज्ञा-

चक्र में तेजोमय स्फुलिंग के ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। जब यह अभ्यास परिपक्व होजाय तब विशुद्ध चक्र में फिर अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान और मूलाधार चक्र में ध्यान-साधना को पुष्ट करे। उक्त छओं चाक्रों में ध्यानाभ्यास के सिद्ध होने पर, जब साधक छओं को पार कर लेता है तब उसे कुण्डलिनी रूप महाशक्ति के दर्शन होते हैं। वह रूप उस समय अत्यन्त विकराल दिखाई देता है, क्योंकि वेदने से पीड़ित हुई कुण्डलिनी फुत्कार करती हुई साधक के अनेक जन्मों के संचित संस्कारों को चबा लेती है। इस प्रकार वह मन की स्थूलता को सूक्ष्मता में परिवर्तित करती जिसे अलंकारिक भाषा में कुण्डलिनी का मन के वक्ष पर चढ़ना और शस्त्र से उसका स्थूलरूप नष्ट करना है। पुराणों में वर्णित दुर्गा-महिषासुर के युद्ध की कल्पना इसी आधार पर हुई है।

शिव-संहिता आदि ग्रन्थों में षट्चक्रों का जो उपर्युक्त क्रम दिया है, उससे यहाँ कुछ अन्तर प्रतीत होता है। चक्रों के नाम-क्रम में अन्तर होने का अभिप्राय यह हो सकता है कि उपस्थ के समीप वाले स्वाधिष्ठान चक्र के भेदन से कामवासना बढ़ती है तब वज्रौली आदि क्रियाओं से ऊर्ध्वरेता होना सिद्ध किया जाता है, यह समयाचार को अभीष्ट नहीं, वरन् कौलाचार को अभीष्ट है।

समयाचार के अनुसार वेधक्रम इस प्रकार है कि मूलाधार के भेदन से पृथिवी तत्व और जलतत्व का भी भेदन करना चाहिए। फिर स्वाधिष्ठान को छोड़ कर मणिपूर में अग्नि का भेदन करते हैं, परन्तु स्वाधिष्ठान चक्र में ऊपर जल और नीचे अग्नि, इन दोनों का सन्धिस्थान होने से अग्नि के प्रदीप्त होजाने पर मूलाधार के भेदन से मूलाधार के पृथिवीतत्व और स्वाधि-

ष्ठान के जलतत्व दोनों का भेदन एक साथ ही हो जाता है, 'हंसोपनिषत्' से भी ऐसा ही सिद्ध होता है—

'गुदमवष्टभ्याधाराद्वायुमुत्थाप्य' इत्यादि (हं० उ०६-९) के अनुसार सनत्कुमार कहते हैं कि 'प्रथम गुदा को खींचकर आधार चक्र की वायु को बाहर निकाले और स्वाधिष्ठान चक्र की तीन प्रदक्षिणाएँ करके मणिपूर चक्र में अनाहत चक्र का अतिक्रमण करे। फिर विशुद्ध चक्र में प्राणों का निरोध कर आज्ञाचक्र के ध्यान पूर्वक ब्रह्मरन्ध्र का ध्यान करे। इस प्रकार 'मैं त्रिमात्र आत्मा हूँ' यह ध्यान करने से आधार चक्र से ब्रह्मचक्र पर्यन्त जो नाद होता रहता है, वह शुद्ध स्फटिक के समान परमात्म ब्रह्म कहा जाता है।

चक्रों का स्थान मेरुदण्ड के भीतर सुषुम्ना नाड़ी में होता है। गुदा के पीछे कन्द संज्ञक मांसपेशी है, जिसकी नाभि में कुण्डलिनी साढे तीन कुण्डल डाले हुए स्वयंभू लिंग पर शयन करती है और जब वह जागती है तब स्वाधिष्ठान चक्र में रहती है। उस अवस्था में जीव विन्दु रूपी शिव तथा कुण्डलिनी जीवस्वरूपा शक्ति कहलाती है। आज्ञा चक्र में चढ़ने पर उसी को त्रिपुरा कहते हैं। वही सहस्रार में शिव के साथ सायुज्यता को प्राप्त होती है। मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार—

मूलाधारादा ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं सुषुम्ना सूर्याभा। तन्मध्ये तटित्कोटिसमा मृणालतन्तुसूक्ष्मा कुण्डलिनी। तत्र तमोनिवृत्तिः। तद्दर्शनात्सर्वपापनिवृत्तिः॥

अर्थात्—मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त सूर्य के समान आभा वाली सुषुम्ना नाड़ी है और उसके मध्य विद्युत जैसी एवं मृणा

लतन्तु के समान सूक्ष्म कुण्डलिनी है, उसमें तमोगुण की निवृत्ति होती और उसके दर्शन से सभी पाप नष्ट होते हैं ।

भेदन के समय शक्ति की गति मूलाधार से सहस्रार की ओर और सहस्रार से उतरते समय मूलाधार की ओर होती है, उस समय वह नाड़ियां को अमृत से सींचती हुई उतरती है । इनदोनों गतियों में आरोह उन्नेय भूमिका और अवरोह अन्वयभूमिका संज्ञक होता है । इन दोनों भूमिकाओं के सिद्ध होने पर ही याग को सिद्धि समझनी चाहिए । योगचूडामण्युपनिषत् के अनुसार 'ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित्' अर्थात् 'जो इनके ऊपर-नीचे जाने को समझता है वही योग का जानने वाला है ।'

सुधाधाराऽऽसारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः
प्रपंचं सिंचन्ती पुनरपि रसाम्नाय महसा ।
अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं
स्वमात्मानंकृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणी ।१०।

टीका—हे कुहरिणी ! अपने दोनों चरणों के मध्य से वर्षती हुई सुधा-धाराओं से प्रपंच को सीचती हुई और छओं तेजोमय रसाम्नाओं से होती हुई (या छओं चक्रों के द्वारा सिंचन करती हुई) अपनी भूमि में उतर कर स्वयं को सर्पिणी के समान साढ़े तीन कुण्डल लगा कर तुम कुलकुण्ड में शयन करती हो ॥१०॥

व्याख्या—इस श्लोक में यह प्रेरणा है कि आज्ञाचक्र में शक्ति का ध्यान करना चाहिए । इस चक्र की विशेषता सुदृढ़ इच्छा शक्ति का विकास करना है । इस चक्र में भेदन होते ही कुण्ड-

लिनी शक्ति किसी प्रकार की बाधा के बिना ही सहस्रार कमल में पहुँच कर शिव से सायुज्य प्राप्त कर लेती है।

इसी कुण्डलिनी शक्ति को प्राणधारिणी प्राणविद्या कहा गया है 'कुण्डलिन्यां समुद्‌भूता गायत्री प्राणधारिणी' इत्यादि (योगचूड़ामण्युपनिषत्) और कहा है कि 'प्राण ही अमृत है' इससे इसे सुधावर्षिणी कहना युक्ति संगत ही है। 'पैंगलोपनिषत्' के अनुसार साधक जब 'ततोऽभ्यास पटुत्वात् सहस्रशः सदाऽमृत-धारा वर्षंति, अर्थात् अभ्यास पटु होजाता है तब सदा अमृत की सहस्रों धाराएँ बरसती रहती हैं।

तात्पर्यदीपिका के अनुसार—

आधारादि षट्कमलदलेषु पातिता द्वादशान्तस्थितचन्द्र-मण्डलात्सृता अमृतविन्दवोऽकारादिक्षकारान्तवर्णात्मना परिणताः उक्त ह्याचार्ये—

मूलाधारात्स्फुरिततड़िदाभा प्रभा सूक्ष्म रूपो—
द्गच्छन्त्यामस्तकमणुतरा तेजसां मूलभूता ।
सौषुम्णाध्वाचरणनिपुणा सा सवित्रानुविद्धा—
ध्याता सद्योऽमृतमथ रवेः स्रावयेत् सार्धसोमात् ।
शिरसि निपातित या विन्दुधारा सुधाया ।
भवति लिपिमयीसा ताभिरंग मुखाद्यम् ॥

अर्थात्—'आधारादि षट्कमल के दलों में पातित द्वादशान्त स्थित चन्द्रमण्डल से निःसृत अमृत की बूँदें अकार से क्षकार के अन्त तक वर्णरूप में परिवर्तित होजाती हैं। आचार्यों का कहना है कि मूलाधार से स्फुरित विद्युत की आभा के समान प्रभावयुक्त सूक्ष्मरूप से निकली हुई, मस्तक से लेकर अणुतर तेज की मूलभूत

सुषुम्ना के मार्ग से संचरण करने में निपुण एवं सविता से अनुबद्ध उसका जब ध्यान किया जाता है, तब वह तुरन्त ही सार्ध, सोम, रवि से अमृत का स्राव किया करती है। मस्तक पर गिरी हुई वह अमृत की बिन्दुधारा जब लिपिमयी होती है तब उससे मुखादि अंग भी परिपूर्ण होजाते हैं।

और शिवसूत्र में वर्णों की विशेषता इस प्रकार व्यक्त की गई है—

अकारादिक्षपर्यन्ताः कलास्ताः शब्दकारणम् ।
मातरः शक्त्योदेव्यो रश्मयश्च कलाः स्मृतः ॥

अर्थात्—'अकारादि से क्षकार तक जो कला हैं, वे शब्द का कारण, मातायें, दैवीशक्ति और रश्मियाँ कहलाती हैं।' इसके अतिरिक्त 'क्रमेणानेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम्' के अनुसार 'कुण्डलिनी शक्ति वर्णमाला की रचना किया करती है।

जब कुण्डलिनी का अवरोह होता है, उस समय विभिन्न नाड़ी-चक्रों से होने वाले अमृत स्राव से सम्पूर्ण शरीर में नख से शिख पर्यन्त सिंचन हुआ करता है। सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत् के अनुसार 'तालुचक्रं तत्रामृतधारा प्रवाहो' इत्यादि से 'तालुचक्र में अमृत की धार निरन्तर बहती रहती है।' कुण्डलिनी जिस मार्ग से चढ़ती है, उसी से उतर कर पुनः अपने स्थान पर साढ़े तीन कुण्डल लगाकर शयन करती है। इसका यह अभिप्राय समझना चाहिए कि कुण्डलिनी जब ऊपर उठ जाती है, तब मूलाधार में वह नहीं रहती और मूलाधार में लौटकर ही पुनः सोती है। अथवा यह भी अर्थ हो सकता है कि मूलाधार में जो अनन्त शक्ति भरी पड़ी है, उसमें कभी कोई कमी नहीं होती,

वरन् जागृत हुई कुण्डलिनी ऊपर चढ़ती है तब भी उसका सम्बन्ध मूलाधार से बना रहता है।

फिर शास्त्र में स्पष्ट ही कहा है कि—

चक्रं सहस्रपत्रं तु ब्रह्मरन्ध्रे सुधाधरम्।
तत्सुधासारधाराभिरभिवर्धयते तनुम् ॥

अर्थात्– अमृत के धारण करने वाले ब्रह्मरन्ध्र में जो सहस्र-दल वाला चक्र है, वह सुधा की धाराओं से शरीर को पुष्ट करता रहता है।

आम्नाय का अभिप्राय मार्ग से है, योगतत्वोपनिषत् के अनुसार 'वायुना यह चित्तं च प्रविशेच्च महापथम्' इत्यादि से योगी के लिए वायु सहित अग्नि और कुण्डलिनी का साधन करके भावना पूर्वक सुषुम्ना प्रवेश करके वहाँ के अवरोध को जीतकर वायु के सहित महापथ में अग्रसर होना कहा है। इससे आगे कहा है—

भूमिरापोऽनलो वायुराकाशश्चेति पंचकः।
येषु पंचसु देवानां धारणा पंचधोच्यते ॥

अर्थात्—जिसका चित्र वायु सहित सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है, उसके लिए पृथिवी, जल, अग्नि,, वायु और आकाश इन पंचमहाभूत रूपी देवताओं की पाँच प्रकार की धारणा होती है।

उक्त श्लोक में प्रपंच का तात्पर्य शरीर से है। शरीरस्थ नाड़ियां रस के स्राव द्वारा शरीर को पुष्ट करती रहती हैं। क्योंकि जिस साधक को शरीर प्रिय हो उसे उसका पुष्ट होना अभीष्ट है ही। 'योगतत्वोपनिषत् के अनुसार—

परब्रह्मणि लीयेत न तस्योत्क्रान्तिरिष्यते ।
अथ नो चेत्तमुत्स्रष्टुं स्वशरीरं नियम् ॥
सर्वलोकेषु विहरन्नणिमादिगुणान्वितः ।
कदाचित्स्वेच्छया देवो भूत्वा स्वर्गे महीयते ॥

अर्थात्—(देह छोड़ने पर) जो परब्रह्म में लीन हो जाता है, उसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। यदि उसे शरीर प्रिय हो तो वह शरीर में स्थित रहकर अणमादि सिद्धियों से युक्त होकर सभी लोकों में विहार कर सकता है और जब कभी चाहे तब स्वर्ग में देवता भी हो सकता है।

महसा का अभिप्राय महान से है, अमरकोष के अनुसार 'महस्तूत्सवतेजसोः' अर्थात् 'महत् का अर्थ उत्सव और तेज है' इसलिए उक्त श्लोक का 'रसाम्नाय' पद अमतयुक्त एवं तेजोमय आम्नाय से होगा इसलिए उक्त पदों का भावार्थ शक्ति के योग से नाड़ियों से अमृत-सिंचन द्वारा शरीर रूपी प्रपंच का पुष्ट होना ही मान्य हो सकता है।

सकार को षट्रसों का आधार बताते हुए कहा है—

सोमं चामृतनायं च सुधासारं सुधानिधिम् ।
सकारं षड्रसाधारं नामभिः परिकीर्तितम् ॥

अर्थात्—सोम, अमृतनाय, सुधासार, सुधानिधि रूपी सकार षट्रसों का आधार है, जिसे उक्त नामों से बताया गया है।

इस प्रकार रसाम्नाय का अभिप्रायः रस सींचने वाली नाड़ियों से है, जिससे कि शरीर की पुष्टि होती है और साधना में शरीर का पुष्ट या स्वस्थ रहना आवश्यक है, क्योंकि रोगी

शरीर से साधना नहीं हो सकती, वरन् रोग साधना में विघ्न-स्वरूप होता है।

चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पंचभिरपि
प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः।
त्रयश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाश्च त्रिवलय-
त्रिरेखाभिः सार्धं तव शरण कोणाःपरिणताः ।११।

टीका—चार श्रीकण्ठ और पाँच शिवयुवतियाँ इन नौ मूल प्रकृतियों से तुम्हारे निवासरूप तेंतालीस त्रिकोण बनते हैं, वे शम्भु के विन्दुस्थान से भिन्न तथा तीन वृत्तों और तीन रेखाओं सहित अष्ट और षोडश दलों से युक्त हैं ॥११॥

व्याख्या—श्रीचक्र-निर्माण में मेरु, कैलास और भूः के भेद तीन प्रकार माने जाते हैं, इन तीनों में ही शक्ति-स्थान तथा अर्चन-विधि में भिन्नता है। मेरुचक्र में सोलह नित्या कलाओं से, कैलासचक्र में आठ मातृका शक्तियों से और भूःचक्र में आठ वशिनी देवियों से सम्बन्धित चक्र होता है।

श्रीचक्र ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों का ही प्रतीक है। क्योंकि ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों में ही समान शक्तियों की विद्यमानता है। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार यह सम्पूर्ण विश्व बानवे मूल तत्वों से बना है। प्रत्येक तत्व का निर्माण परमाणुओं से हुआ है। परमाणु के मध्य न्यूक्लियस होता है, जिसका व्यास एक इंच के लाखवें भाग का भी सौ लाखवाँ भाग है। इस न्यूक्लियस को केन्द्र मानकर जो इलेक्ट्रोन घूमते रहते हैं, वे केन्द्र से मिलने के लिए सदा उत्सुक रहते हैं। परमाणु में न्यू-

क्लियस और इलेक्ट्रोन दोनों अपना कार्य करते रहते हैं तथा सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ इनका सम्मिलित रूप है। इस प्रकार वैज्ञानिक लोग महत् और अणु दोनों के मूलभूत सिद्धान्तों का अध्ययन कर इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि महत् में काम करने वाले नियम ही परमाणुओं का संचालन करते हैं और यही सिद्धान्त भारतीय और ब्रह्माण्ड और पिण्ड का भी है।

इस प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की रचना चार श्रीकण्ठ और पाँच शिवयुवतियों के मिलने से होती है। यहाँ श्रीकण्ठ का अर्थ शिव-त्रिकोण और शिव-युवतियों काअर्थ शक्ति त्रिकोणों से लेना चाहिए। सृष्टि क्रम में शिव-त्रिकोण अधोमुख और शक्तित्रिकोण ऊर्ध्वमुख होते हैं, जब कि प्रलयक्रम में इनकी स्थिति विपरीत होती है। प्रथम केन्द्रिय त्रिकोण के केन्द्र में शिव का स्थान है और शेष त्रिकोण बयालीस हैं।

प्रकृति के सत्व, रज, तम, इन तीनों गुणों से त्रिकोण योनि बोध रूप शिव तत्व है। अ उ म स्वरूप प्रणवात्मक त्रिकोण में भी अर्द्ध मात्रा के रूप में शिव लिंग को ही माना गया है। शिव के त्रिकोण अथवा त्रिक अनेक माने जाते हैं। त्रिनेत्र, त्रिशूल, त्रिपुण्ड, रुद्राक्ष, बिल्वपत्र, आदि में तीन नेत्र, तीनशूल, तीन रेखाओं वाला त्रिपुण्ड और तीन ही रेखाओं का रुद्राक्ष माना जाता है। बिल्वपत्र में भी तीन दल होते हैं तथा पशुपति, पशु और पाश यह त्रिक इसका बोध कराता है कि शिव पशुपति हैं उन्होंने जीव रूप पशु को अज्ञान में डूबे रहने के कारण अपने पाश में बाँध रखा है। शिव के पास में बँधा हुआ वह जीव भी स्थूल, सूक्ष्म और कारण देह से सम्बन्धित है, इसलिए वह भी त्रिक ही हुआ।

शिव की विद्यमानता सर्वत्र है, इसलिए उन्हें स्वर्ग, अन्तरिक्ष और पृथिवी तीनों लोकों में व्यापक समझना चाहिए। वेद में शिव को अग्नि की संज्ञा दी है, जिसके तीन जन्म क्रमशः द्यौलोक, पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष में हुए तथा उसके तीन रूप भी आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि के रूप में प्रसिद्ध हैं। उस अग्नि का स्थान भी ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ तीन आश्रमों में ही है, चौथे संन्यास आश्रम में तो अग्नि को त्याग हो दिया जाता है।

इस प्रकार अनेक विद्वान् शिव के सात त्रिक मानते हैं और सात ही शक्ति के, इस प्रकार चौदह त्रिकों की बयालीस संख्या हुई। एक स्थान शिव का मिला कर तेंतालीस पूरे होगए।

आयुर्वेद के अनुसार भी मनुष्य शरीर में सात कला, सात आशय, सात धातु, सात धातु-मल, सात उपधातु और सात त्वचा हैं, यह सब मिल कर बयालीस हुए। इन्हीं के आधार पर यह शरीर टिका है तथा जीव को पृथक् जोड़ कर तेंतालीस की संख्या पूरी होजाती है। त्रिदोषात्मक होने के कारण इन तेंतालीसों की त्रिकोण संज्ञा होजाती है।

चार श्रीकंठ का अभिप्राय सदाख्य, महेश्वर, महत्तत्व और पुरुष अर्थात् जीव से है अथवा पुरुष, अव्यक्त, महत्तत्व और अहंकार से भी हो सकता है। मनुष्य शरीर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन है, इसलिये कुछ विद्वानों के मत में उन्हीं चार को श्रीकण्ठ समझना चाहिये।

पाँच शिव युवतियाँ शक्ति, माया, कला, शुद्ध विद्या और अशुद्ध विद्या हैं। कुछों के मत में प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान यह पंच वायु शिवयुवतियाँ समझनी चाहिए। प्रणव

की साढ़े तीन मात्राएँ चार श्रीकण्ठ हो सकते हैं, क्योंकि अकार में ब्रह्मा, उकार में विष्णु मकार में रुद्र और उसके अन्त में परात्पर ब्रह्म है।

श्रीचक्र बनाने के लिए मध्य के प्रथम त्रिकोण अर्थात् शिव-स्थान को छोड़कर, उसके बाहर आठ कोण, उसके बाहर दस कोण अन्तर्दशार तथा दस कोण बहिर्दशार और फिर उसके बाहर चौदह कोण बनते हैं। इस प्रकार इन त्रिकोणों की संख्या तेंतालीस होती है।

एक जीवभूता परा प्रकृति और आठ प्रकारकी अपरा प्रकृति मिल कर नौ हुईं। आकाशादि पंच महाभूतों से पंच तन्मात्राएँ और मन, बुद्धि, अहकार से समष्टि अहकार, महत्तत्व और अव्यक्त होता है। सांख्य शास्त्र के अनुसार यह मनुष्य शरीर पच्चीस तत्वों का खेल है उनमें पुरुष और प्रकृति के रूप में दो मुख्य विभाग हैं तथा पुरुष चैतन्य स्वरूप होने से न तो किसी तत्व से बना है और न वह कुछ बनाता ही है और प्रकृति के आठ विभाग करके उसमें से सोलह विकारों की उत्पत्ति मानी है, जिससे प्रकृति के २४ तत्व होजाते हैं।

'सत्वरजस्तमां साम्यावस्था प्रकृतिः' के अनुसार सत्व, रज, तम रूप तीनों मूल तत्वों की समानावस्था का नाम ही प्रकृति है। माया के सात शुद्धाशुद्ध तत्व—माया, काल, कला, नियति, अविद्या, राग और पुरुष तथा पाँच कला—शान्त्यातीता, शांति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति, यह सब मिलकर छत्तीस तत्व हुए, इनमें रक्त, मांस, मेद, स्नायु, अस्थि, मज्जा और वीर्य संज्ञक सप्तधातु मिला देने से तेंतालीस संख्यक होजाते हैं।

त्वदीयं सौन्दर्यं तुहिनगिरिकन्ये तुलयितुं
कवीन्द्रा कल्पन्ते कथमपि विरिंचिप्रभृतयः ।
यदा लोकौत्सुक्यादमरललना यान्ति मनसा
तपोभिर्दुष्प्रापामपि गिरिशसायुज्यपदवीम् ॥१२॥

टीका—हे गिरिकन्ये ! तुम्हारे सौंदर्य की तुलना करने के लिए विरंचि प्रभृति कवीन्द्रगण भी कुछ कल्पना करते रहते हैं । तुम्हारे सौन्दर्य को देखकर देव-ललनाएँ भी उत्सुकतावश विचार मग्न होजाती तथा तपस्या से भी दुष्प्राप्य शिवसायुज्य पदवी को प्राप्त कर लेती हैं ॥१२॥

व्याख्या—भगवती के सौंदर्य-चिन्तन मात्र से शिव की सायुज्य पदवी प्राप्त होजाती है । साधक को उसी शिव-शक्ति के विचार में मग्न अर्थात् ध्यानस्थ रहना चाहिए । यहाँ बहिर्याग के फल स्वरूप जिस अन्तर्याग की उपलब्धि होती है, वह सहस्रार में शिव-शक्ति के सायुज्य से परमपद की प्राप्ति में हेतु होता है ।

दुर्गा सप्तशती में ब्रह्मज्ञानी ने भगवती के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—

सौम्या सौम्यतराशेष सौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरीम् ।
परापराणां परमा त्वमेव परमेश्वरीम् ॥

अर्थात्—हे परमेश्वरी ! तुम सौम्य से भी सौम्यतर, सौम्यों में अत्यन्त सुन्दरी, पर-अपरों में परमा हो ।

और श्वेताश्वर उपनिषत् के अनुसार—

यथैव बिम्बं मृदयांपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधातम् ।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ।।

अर्थात्—मिट्टी से लिपे हुए के समान स्वच्छ, तेजोमय अमृत के समान दैदीप्यमान और शीतल बिम्ब के समान आत्मतत्त्व को देख कर शरीराभिमानी जीव ब्रह्म से एकत्व प्राप्त करके कृतार्थ और शोक-रहित हो जाता है।

इस प्रकार भगवती परम सुन्दरी हैं, उनके समान कोई अन्य सुन्दरी है ही नहीं, इसलिए कविगण भी उस रूप के चिन्तन में लगे रह कर उसका गुणानुवाद करने में समर्थ होते हैं। श्लोक में विरिंचि अर्थात् ब्रह्मा प्रभृति इसलिए कहा है कि ब्रह्मा ही सृष्टि के कर्त्ता एवं आदि कवि हैं। उनकी रचना भी अद्वितीय होगी ही। परन्तु भगवती के स्वरूप चिन्तन में वह भी ठीक प्रकार से समर्थ न हो सके तो अन्य कविगण तो उनके चिन्तन का कुछ अंश ही सोच सकते हैं। वे बेचारे यथार्थ रूप का वर्णन करने में समर्थ कहाँ से होंगे ?

और तो और, देव-ललनाएँ अथवा स्वर्ग की अप्सराएँ भी इतनी सौंदर्यमयी नहीं, जितनी भगवती हैं। इसीलिए वे भी उन के परम सुन्दर स्वरूप पर ऐसी मोहित हो जाती हैं कि उस रूप का चिन्तन करते-करते ही उनसे तादात्म्य स्थापित कर लेती हैं। वही तादात्म्य शिवसायुज्य है जो घोर तपस्या करने वालेयोगियों के लिए भी दुःसाध्य है।

इस श्लोक में ध्यान के महत्व को अधिक स्वीकार किया गया है। वह ध्यान तभी बनता है जबकि मन में निश्चलता हो। घोर तपस्या करते रहने पर चंचल मन अपने लक्ष्य से

हट जाता है तब शिव-तादात्म्य की संभावना नहीं रहती। परन्तु यदि योगी सभी विकारों को जीत कर सर्वत्र ब्रह्ममय ही देखने लगे तो उसका मन चंचलता को प्राप्त करके भी ब्रह्ममयत्व से पृथक् नहीं जा पाता। सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत् के अनुसार उस समय उसकी यह अवस्था होती है—

यत्रयत्र मनोयाति तत्रतत्र परंपदम् ।
तत्रतत्र परंब्रह्म सर्वत्र समवस्थितम् ॥

अर्थात्—'साधक का मन जहां-जहां जाता है, वहीं-वहीं उसे परमपद उपलब्ध होता है और वहीं-वहीं सर्वत्र परब्रह्म की अवस्थिति समान रूप से रहती है।'

इससे सिद्ध हुआ कि मन की परम एकाग्रता चिन्तनीय विषय से तादात्मय स्थापित कराने में अत्यन्त सहायक होती है। देव-ललनाओं का भगवती के विचार अर्थात् ध्यान में तल्लीन होना इसी अर्थ का सूचक है।

नरं वर्षीयांसं नयनविरसं नर्मसु जडं
तवापांगालोके पतितमनुधावन्ति शतशः ।
गलद्वेणीबन्धाः कुचकलश विस्रस्तसिचया
हठात् त्रुट्यत्कांच्या विगलितदुकूला युवतयः ॥ १३ ॥

टीका—आयु में वृद्ध, नेत्रों को कुरूप लगने वाले, क्रीडा में जड (निश्चेष्ट) पुरुष भी तुम्हारे देखने मात्र से ऐसा आकर्षक (सुन्दर) हो जाता है कि उसके पीछे ऐसी सैकड़ों युवतियाँ भागने लगती हैं जिनकी वेणी के बन्धन खुल गए, कुचकुम्भों

पर चोलियाँ फट गईं, मेखला हठात् टूट गई और शरीर से दुकूल भी उतरा जारहा है ॥१३॥

व्याख्या—शक्ति के जागरण से शारीरिक सौंदर्य की भी प्राप्ति संभव है। इससे रूप, लावण्य, बल और अंग-अंग का दृढ़ होना तथा अणिमादि सिद्धियों का प्राप्त होना भी स्वाभाविक कहा जाता है। कुण्डलिनी जब सोयी रहती है तब मनुष्य की सभी शक्तियाँ सोयी हुई रहती है और जब कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है तब मनुष्य का अंग-अंग क्रियाशील हो उठता है। प्रत्येक अंग में जो शक्ति प्रकट होजाती है, उसे देख कर स्वय ही आश्चर्य होने लगता है।

कुण्डलिनी के जागने पर स्थूलता का सूक्ष्मता में परिवर्तिन होने लगता है। इससे केवल बल का ही विकास नहीं होता, वरन् उससे समूचे शरीर का कायाकल्प ही होजाता है उस समय उसमें ब्रह्मानन्द का तेज, रूप-लावण्य और बल भर जाता है। 'लक्ष्यलक्षणहीनोऽसि निर्विकारो निरामयः' अर्थात् 'लक्ष्य और लक्षण से रहित निर्विकार और निरोगी हो जाता है।' योगतत्वोपनिषत् के अनुसार योगी को ऐसी उपलब्धि होजाती है कि—

सिंहो वा योगिना तेन म्रियन्ते हस्तताडिताः।
कन्दर्पस्य यथा रूपं तथा स्यादपि योगिनः॥
तद्रूपवशगा नार्यः कांक्षन्ते तस्य संगमम्।
यदि सगं करोत्येष तस्य बिन्दुक्षयो भवेत्॥

अर्थात्—सिंह आदि भयंकर और हिंसक जीव योगी केहस्तताडन से ही मर जाते हैं और उसका स्वरूप भी कामदेव के

समान सुन्दर होजाता है। उसके रूप को देख कर अनेक स्त्रियाँ उस पर मोहित होकर भोग की आकांक्षा करने लगती हैं, परन्तु यदि योगी ऐसा करेगा तो उसका शुक्र नष्ट हो जायगा।

'कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च' इस योग दर्शन के वाक्यानुसार भूतों के धर्मों से बाधा नहीं होती ओर कायसम्पत् की प्राप्ति होती है। महर्षि पंतजलि ने स्वयं ही कायसम्पत् की व्याख्या कर दी है—

रूप लावण्यबलवज्र संहननत्वानि कायसम्पत्।

—योगदर्शन ३।४६

अर्थात्—रूप, लावण्य और बल युक्त तथा ब्रज के समान दृढ़ काया का होना ही कार्य सम्पत् है।

इस कार्य-सम्पत् की प्राप्ति मनुष्य के ऊर्ध्वरेता होने से ही संभव है। उसके शरीर में रसोत्पादन की जो क्षमता बढ़ती है, उससे शक्ति का ह्रास तो रुकता ही है, साथ ही स्नायुओं में नयी प्राणशक्ति के संचार से सप्तधातुओं का पुर्ननिमाण होने लगता है। शाण्डिल्योपनिषत् में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

अपनामूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयन्।
योगी जराविनिर्मुक्तः षोडशो वयसा भवेत्॥

अर्थात्—'अपान वायु को ऊपर ले जाकर और प्राणवायु को कठं से नीचे लाकर योगी वृद्धावस्था-रहित, सोलह वर्ष की आयु का बन जाता है।'

इस प्रकार बुढ़ापा हट कर बीती हुई बाल्यावस्था और यौवन की पुनः प्राप्ति होती है तथा साधक सब प्रकार से स्वस्थ

शरीर, शुद्ध चित्त और कामदेव के समान रूप-लावण्य से सम्पन्न हो जाता है।

क्षितौ षट् पंचाश द्विसमधिक पंचाशदुदके
हुताशे द्वाषष्टिश्चतुरधिक पंचाशदनिले।
दिवि द्विःषट् त्रिशन्मनसि च चतुःषष्टिरितिये
मयूखास्तेषामप्युपरि तव पादाम्बुज युगम् ।१४।

टीका—हे देवि! तुम्हारे दोनों चरण कमल पृथिवी में छप्पन, जल में बावन, अग्नि में बासठ, वायु में चौवन, आकाश में बहत्तर और मन में चौंसठ मयूखाओं (रश्मियों) के ऊपर हैं ॥१४॥

व्याख्या—पंच महाभूत, पंच तन्मात्राएँ, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, अन्तःकरण चतुष्टय, कला, प्रकृति, महत् और पुरुष, यह सब मिलकर अट्ठाईस हुए तथा शिव और शक्ति के जोड़े के कारण द्विगुणित होकर पृथिवी की छप्पन रश्मियाँ हुईं।

पंच महाभूत, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, उनके दस कार्य और मन, यह सब मिलकर छब्बीस हुए। शिव और शक्ति के भेद से दुगुने होकर जल की बावन रश्मियाँ हुईं।

पंच महाभूत, पंच तन्मात्राएँ, दस इन्द्रियाँ, दस उनके कार्य और मन, यह सब मिलकर इकत्तीस हुए। इस प्रकार शिव-शक्ति दोनों के कारण दुगुने होने से अग्नि की बासठ रश्मियाँ हुईं।

पंच महाभूत, पंच तन्मात्राएँ, दस इन्द्रियाँ, अन्तःकरण चतुष्टय, कला, प्रकृति और पुरुष, यह सब मिलकर सत्ताईस हुए। शिव और शक्ति दो होने के कारण दुगने होकर वायु की चौवन रश्मियाँ होती है

पंच महाभूत, पंच तन्मात्राएँ दस इन्द्रियां, अन्त:करण चातुष्टय, पंच कला और माया के सात तत्व मिल कर छत्तीस हुए, जिनकी शिव-शक्ति के भेद से आकाश की बहत्तर रश्मियाँ हुईं।

पंच महाभूत, पंच तन्मात्राएँ, दस इन्द्रियाँ, अन्त:करण चातुष्टय, पचकला में से केवल शुद्ध विद्या और माया के सातों अशुद्ध तत्व मिल कर बत्तीस हुए। शिव-शक्ति भेद से मन की चौंसठ रश्मियाँ हुई।

इन सब रश्मियों का योग तीन सौ साठ हुआ, जिन्हें चान्द्र वर्ष की तीन सौ साठ तिथियाँ मान सकते हैं। वर्ष में चौबीस पक्ष होते हैं, जिनकी पन्द्रहों तिथियों को 'नित्या' कहते हैं और चाक्र में स्थित षोडश दल की गुप्ततर योगिनियों को भी 'नित्या' ही कहते हैं।

सभी तत्वों के इडा और पिंगला नाडी के भेद से दो प्रकार हैं। इडा से सम्बन्धित रश्मियाँ चन्द्रमा से सम्बन्धि अथवा शक्ति सम्बन्धी समझनी चाहिए और पिंगला से सम्बन्धित रश्मियाँ सूर्य-सम्बन्धी होती हैं, जो कि शिव-सम्बन्धी मानी जाती हैं। इनमें चान्द्र-रश्मियाँ स्त्रीलिंग वाचक और सौर-रश्मियाँ पुलिंग वाचक हैं। यह दोनों ह· सुषुम्ना में जाकर मिलती हैं इस प्रकार सभी रश्मियाँ आज्ञा चक्र के ऊपर तक पहुँचा दी जाती हैं, जहाँ कि भगवती के चरणकमलद्वय, सभी कारणों का अतिक्रमण कर के सबसे ऊपर विद्यमान बताये गये हैं।

मूलाधार से विशुद्ध चक्र पर्यन्त पाँच चक्रों से पंचतत्वों का और आज्ञाचक्र से मन का सम्बन्ध होने के कारण इन रश्मियों का सम्बन्ध छओं चाक्रों से माना जाता है। छओं चाक्रों को छः

ऋतुओं के समान माना जाता है। मूलाधार चक्र वसन्त ऋतु के समान, स्वाधिष्ठान चक्र ग्रीष्म के समान, मणिपूर चक्र वर्षाऋतु के समान, अनाहत चक्र शरद ऋतु के समान, विशुद्धचक्र हेमन्त के समान, ओर आज्ञाचक्र शिशिर ऋतु के समान समझना चाहिए। इसका कारण यह है कि वसन्त में पृथिवी का भेदन होकर सुगन्धित पुष्प खिल उठते हैं, जबकि मूलाधार चक्र का तत्व पृथिवी ही है। ग्रीष्म ऋतु में जल का भेदन होकर जल शुष्क होने लगता है, जबकि स्वाधिष्ठान चक्र का तत्व भी वरुण जल है। वर्षा ऋतु में अग्नि का भेदन होकर विद्युत् आदि का विकास होने से मणिपूर चक्र से सादृश्यता बनती है क्योंकि इस चक्र का तत्व अग्नि है। शरद ऋतु में वायु का भेदन होता है और अनाहत चक्र का तत्व भी वायु ही है। हेमन्त ऋतु में आकाश का भेदन होकर शीत बढ़ जाता है और विशुद्ध चक्र का तत्व भी आकाश माना जाता है। शिशिर ऋतु में चित्त में आनन्द की वृद्धि होती है और आज्ञाचक्र का भेदन होने पर परमानन्द की अनुभूति होती है इसीलिए इस ऋतु को आज्ञाचक्र की समानता दी गई है।

इस प्रकार तिथियों से उक्त रश्मियों की समानता करने पर संवत्सर को पुरुष-पिण्ड का आधार मानना चाहिए। चन्द्रमा की कृष्णपक्ष में अन्वय भूमिका और शुक्लपक्ष में उन्नेय भूमिका मानी जाती है। सूर्य का दक्षिणायन होना भी सूर्य की अन्वय भूमिका और उत्तरायण होना उन्नेय भूमिका है। यजुर्वेद श्रुति 'तदेवाग्निस्तदादित्यः' इत्यादि (३२।१)के अनुसार 'परमात्मा ही अग्नि,सूर्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म और वरुण है।' सूर्य का अर्थ ब्रह्म के साथ प्राण भी लिया जा सकता है, क्योंकि इससे सूर्य को शिव रूप भी माना गया है, और—

प्रायोऽपि भगवानीश- प्राणोविष्णुः पितामह ।
प्राणेन धार्यते लोकाः सर्वं प्राणमयं जगत् ।।

अर्थात्—प्राण ही शिव, विष्णु और ब्रह्मा है । सभी लोक प्राण पर स्थित हैं, यह सम्पूर्ण जगत् प्राणमय ही है ।

इस प्रकार प्राण की महिमा सर्व व्यापिनी है और प्राण ही प्रकाश का स्तम्भ रूप ही है जो अपनी रश्मियों से अवरोध रूप अन्धकार को दूर करने में सर्वथा समर्थ रहता है ।

महर्षि पतजलि ने भूतजय, इन्द्रियजय, मनोजय, और प्रकृति-जय के रूप में जो साधन बताये हैं, उनके करने से तत्ववेध की सामर्थ्य प्राप्त हो सकती है । चक्रवेध के साथ तत्ववेध में योगियों के लिए आवश्यक है, इसलिए निम्न सूत्रों का वर्णन भी आवश्यक प्रतीत होता है—

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयावर्थत्व संयमाद् भूतजयः । ततोऽणि-मादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च, (यो.द.३।४४ ४५)

अर्थात्—पंचभूतों के स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, अर्थत्व में संयम करने से भूतों पर जय प्राप्त होती है । तब अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होतीं, भूतों के धर्मों में बाधा नहीं पड़ती और कायसम्पत होता है ।

अब इन्द्रियजय और प्रकृतिजय बताते हैं—

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्व संयमादिन्द्रियजय । ततो-मनोजयित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ।। (यो.द. ३।४७-४८)

अर्थात्—ग्रहण,स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्व में संयम करने से इन्द्रियजय होती है, जिससे मनोजयत्व, विकरण-भाव और प्रकृतिजय होता है ।

इस प्रकार पंचभूतों में संयम करने से उक्त सभी उपलब्धियाँ होती हैं, जो चक्रभेदन में सहायक हैं। भगवती के चरण इन सभी को जीतकर इनके ऊपर प्रतिष्ठित हैं।

शरज्ज्योत्स्नाशुभ्रां शशियुत जटाजूट मुकुटां
वरत्रासत्राणस्फटिक घुटिका पुस्तक कराम्।
सकृन्न त्वां नत्वा कथमिव सतां सन्निदधते
मधुक्षीर द्राक्षामधुरिमधुरिणा भणितयः ॥१५

टीका—शरद पूर्णिमा की चाँदनी के समान श्वेत वर्ण वाली, दोज के चन्द्रमा के समान जटाजूट रूपी मुकुट के धारण करने वाली, दो हाथों से त्रास से त्राण करने के लिए अभय दायक और वरदायक मुद्रा प्रदर्शित करती हुई, और दो हाथों में स्फटिक मणिमाल और पुस्तक धारण किये हुए तुम्हें एक बार भी नमस्कार न करने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ कवियों के समान मधु, क्षीर द्राक्षा जैसे माधुर्य से परिपूर्ण कविता करने में कैसे समर्थ हो सकता है?

व्याख्या—इस श्लोक और आगे के दो श्लोकों के मिलने पर सारस्वत प्रयोग होता है। इनमें वाग्भव रूप क्रिया शक्ति के ध्यान का वर्णन समझना चाहिए। कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् होती है तब उसके चार रूप व्यक्त होते हैं—(१) क्रियामय, (२) कलामय, (३) वर्णमय, और (४) वेधमय। क्रियामय रूप दैहिक कम्पादि, आसन, प्राणायाम, मुद्रा, अभिनय नृत्यादि का समावेश है। कलामय रूप में छत्तीस तत्वों के व्यतिरेक और शुद्धि की क्रियाओं का समावेश समझा जाता है। वर्णमय रूप में मंत्र की सम्पन्नता है, यह सरस्वती का ही स्वरूप है जो परा, पश्यन्ती,

मध्यमा और वैखरी के आधार में जगत् को धारण किये हुए है। वेधमय रूप में षट्चक्र वेध का समावेश है।

सरस्वतीहस्योपनिषन् के अनुसार वाणी के चार पाद हैं, यथा—

ऐं चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदयन्ति ॥

अर्थात्—वाणी परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चार पदों वाली है, इन पदों को ज्ञानीजन भले प्रकार जानते हैं। इनमें प्रथम तीन तो हृदयगह्वर में स्थित होने के कारण प्रकट नहीं होतीं, केवल वैखरी ही मनुष्यों द्वारा बोलने में प्रयुक्त होती है। इस 'चत्वारि वागिति' मन्त्र के ऋषि दीर्घतमा, छन्द त्रिष्टुप् देवता सरस्वती, बीज, शक्ति, कीलक 'ऐं' है। मंत्र से ही अंग-न्यास किया जाता है। इस प्रकार इस वाक्बीज को वाग्भव कूट का स्वरूप समझना चाहिए।

कवीन्द्राणां चेतः कमलवनबाला तपरुचिम्
भजन्ते ये सन्तः कतिचिदरुणामेव भवतीम्।
विरिंचिप्रेयस्यास्तरुणतर श्रृंगार लहरी
गभीरावाभिर्वाग्भिविदधति सतां रंजनमयी ।१६।

टीका—कवीन्द्रों के चित्त रूपी कमलवन को पुष्पित करने के लिए उदय होते हुए सूर्य के समान तुम अरुणा स्वरूपा का जो सन्तजन भजन करते हैं, उनके द्वारा ब्रह्मा की प्रिया की तरुण-तर श्रृंगार लहरी से निर्गत गम्भीर कविताएँ सज्जनों का मनो-रंजन करने वाली होता हैं ॥१६॥

व्याख्या—इस श्लोक में कामकूट की देवी इच्छा शक्ति के ध्यान की प्रेरणा दी गई है। सरस्वती रहस्योपनिषत् के अनुसार—

चातुर्मुखमुखाम्भोजवनहंसवधूर्मम ।
मानसेरमतां नित्यं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥

अर्थात्--'जो सरस्वती ब्रह्मा के मुख-कमल रूप वन में राजहंस के समान विचरण करती हैं, वे श्वेत कान्ति और अंग वाली देवी हमारे मन रूपी हृदय में नित्य रमण करें।'

'यः कवित्वं निरातंकं' इत्यादि के अनुसार सरस्वती कवित्व भोग, निर्भयता और मोक्ष की देने वाली है, जिसे इनमें से किसी की इच्छा हो उसे सरस्वती की नित्य स्तुति करनी चाहिए। क्योंकि सरस्वती का उपासक कवि बिना किसी दूसरों से सुने हुए ही ग्रन्थों का अर्थ समझने में समर्थ होता है।

सविित्रिभिर्वाचां शशिमणिशिलाभंगरुचिभि-
र्वशिन्याद्याभिस्त्वां सह जननि संचिन्तयति: ।
स कर्त्ता काव्यानां भवति महता भंगिरुचिभि-
र्वचोभिर्वाग्देवीवदनकमलामोद मधुरैः ।१७।

टीका—सावित्री सहित वशिनी आदि (आठ) वाग्देवियों के सहित जो चन्द्रकान्त मणि की शिला से निर्मित-मूर्तियों की शोभामयि जननि ! जो तुम्हारा इस प्रकार ध्यान करता है, वह उच्च कोटि की रचना करने में समर्थ होता है और उसकी मनोरंजक कविता तुम वाग्देवी के मुखकमल के आमोदमय माधुर्य से परिपूर्ण होती है ॥१७॥

व्याख्या—इस श्लोक में आठ वशिनी आदि वाग्देवियों के सहित देवी के ध्यान की प्रेरणा दी गई है और वाग्देवियों की शोभा का सामंजस्य चन्द्रकान्त मणियों की शोभा से किया गया है। इसमें शक्तिकूट की देवी ज्ञान शक्ति के ध्यान का संकेत है।

'नामजात्यादिभिर्भेदैरष्टधा या विकल्पिता'इत्यादि (सरस्वती-र० उ०) के अनुसार वाणी के आठ रूप हैं।

मैत्रेय्युपनिषत् में मूर्ति-पूजा को ब्रह्म-प्राप्ति में बाधक माना है। यह पूजा भोग-प्रदायिनी हो सकती है और उसमें जो भावात्मकता होती है, उसके कारण मन को प्रसन्न करने वाले काव्य का सृजन भी हो सकता है—

पाषाणलोहमणिमृन्मयविग्रहेषु पूजा पुनर्जनन भोगकरी मुमुक्षोः। तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्याद्बाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय॥

अर्थात्—पत्थर, लोहा, मणि या मृत्तिका द्वारा बनाई हुई मूर्तियों की पूजा मुमुक्ष के लिए पुनर्जन्म और भोग प्राप्त कराने वाली होती है, इसलिए पुनर्जन्म न लेना पड़े, इस उद्देश्य से योगी को ऐसी बाह्य पूजा त्याग कर अपने हृदय में ही (आत्मा की) पूजा करनी चाहिए।

तनुच्छायाभिस्ते तरुणतरणि श्रीधरणिभि-
र्दिवं सर्वामुर्वीमरुणिमनिमग्नां स्मरति यः।
भवन्त्यस्य त्रस्यद्वनहरिणशालीन नयनाः
सहोर्वश्या वश्याःकतिकतिन गीर्वाणगणिका॥१८

टीका—तरुण सूर्य की कान्ति को धारण करने वाली देह-कान्ति से अपनी अरुणिमा में आकाश और सम्पूर्ण पृथिवी को

निमग्न करनी वाली तुम्हारा जो स्मरण करता है, उसके वश में वन-मृगियों के समान चंचल नयन वाली कितनी ही अप्सराएँ उर्वशी के सहित हो जाती हैं ॥१८॥ यानी यह अपसरायें उस को वश कर के उसकी तपस्या भंग नहीं कर सकती।

व्याख्या—इस श्लोक में मधुमती भूमिका की ओर संकेत है जिसमें स्वर्ग की अप्सराएं ब्रह्मज्ञानी साधक की तपस्या भंग करने का प्रयत्न करती रहती हैं।

पुराणों की अनेक कथाओं में ऐसा वर्णन आता है कि ऋषि-महर्षियों की तपस्या को भंग करने के लिए इन्द्र द्वारा अप्सराएँ भेजी गईं। समाधिस्थ शिव की समाधि भंग करने के लिए भी देवताओं ने कामदेव और उसके सहायकों को भेजा था। कामदेव के सहायकों में बसन्त ऋतु का प्राकट्य और अप्सराओं का विभिन्न मोहक मुद्राओं के साथ नृत्यागान प्रमुख रहता था।

कुछ विद्वान् उस श्लोक का अभिप्राय भगवती की भोग प्रदान करने वाली सामर्थ्य को भी व्यक्त करना ही मानते हैं। उनके अनुसार तन्त्रशास्त्र का निम्न श्लोक इसकी पुष्टि करता है—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो
यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।
श्री सुन्दरी सेवक तत्पराणां
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥

अर्थात्—जहाँ भोग है, वहाँ मोक्ष नहीं और जहाँ मोक्ष है वहाँ भोग नहीं है। परन्तु जो मनुष्य भगवती त्रिपुरसुन्दरी की सेवा में तत्पर हैं, उन्हें भोग और मोक्ष दोनों ही सहज साध्य हैं।

योगी की चार स्थितियाँ मानी गई है—(१) कल्पिक, (२) मधुभूमिक, (३) प्रज्ञाज्योति, और (४) अतिक्रान्त भावनीय। इनमें से प्रथम स्थिति सवितर्क समाधि प्राप्त करने वाले प्रारम्भिक अभ्यासी की, दूसरी निर्वितर्क अर्थात् ऋतम्भरा को प्राप्त करके पंचभूत और इन्द्रियों के जीतने की इच्छा वाले अभ्यासी की, तीसरी भूतेन्द्रियों को जीतने पर विशोका के अभ्यासी की और चौथी मधुप्रतीका विशोका को प्राप्त कर उससे विरक्त हुए योगी की होती है।

इस श्लोक में दूसरी स्थिति मधुभूमिक का ही वर्णन है, जिसमें स्थानीय देवता योगी को अत्यन्त आदर पूर्वक अनेक प्रकार के भोगों और ऐश्वर्यों का प्रलोभन देते हैं। वे योगी से कहते हैं कि यहाँ रहो, यह रमण करो, यहाँ सुन्दर रमणियाँ हैं, इनका सेवन करो। यह रसायन तुम्हारे लिए है इसका भक्षण करो, इससे वृद्धावस्था या मृत्यु की प्राप्ति नहीं होती। यह कैसा सुन्दर विमान है, यह कल्पवृक्ष है, यह दिव्य कर्ण-नेत्र हैं, यह वज्र जैसा शरीर और देवताओं के स्थान हैं। इस प्रकार स्थानीय देवता जो प्रलोभन देते हैं उनसे सावधान रहना चाहिए। इसी अभिप्राय को महर्षि पतंजलि ने प्रकट किया है—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात्।

—यो० द० ३।५१

अर्थात्—स्थानियों द्वारा बुलाये जाने पर न तो संग करे और न अभिमान ही करे, क्योंकि उससे पुनः अनिष्ट अर्थात् क्लेश होने की संभावना रहती है।

और इसीलिए अनेक शास्त्रों ने संगत्याग का निर्देश देकर साधक को सावधान करने का प्रयत्न किया है। अन्नपूर्णोपनिषत् में भी कहा है कि—

सावधानो भव त्वं च ग्राह्यग्राहक संगमे ।
अजस्रमेव संकल्प दशाः परिहरन् शनैः ॥

अर्थात्—संकल्प की दशा का धीरे-धीरे निरन्तर त्याग करता हुआ तू विषयों और विषयों को ग्रहण कराने वाले संग से सदा सावधान रह ।

इस प्रकार साधक को संग-दोष से बचने का सदा प्रयत्न करना चाहिए, अन्यथा हो सकता है कि उसकी घोर कष्ट से संचित साधना नष्ट होजाय, यही उपदेश उक्त श्लोक में दिया गया प्रतीत होता है ।

मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो
हरार्धं ध्यायेद्यो हरमहिषि ते मन्मथकलाम् ।
स सद्यः संक्षोभं नयति वनिता इत्यतिलघु
त्रिलोकीमप्याशु भ्रमयति रवीन्दुस्तनयुगाम् ॥१९॥

टीका—मुख को बिन्दु बनाकर उसके नीचे दोनों स्तनों के दो बिन्दु और बनावे । उसके नीचे हकार के आधे भाग का ध्यान करे । हे हरमहिषि ! इस प्रकार तुम्हारी कामकला का जो पुरुष ध्यान करता है, वह स्त्रियों के चित्त को तुरन्त ही क्षोभयुक्त कर देता है । यह कार्य तो बहुत छोटा है, क्योंकि वह सूर्य-चन्द्र रूपी दो स्तन वाली त्रिलोकी को भी भ्रमित करने में समर्थ है ॥१९॥

व्याख्या—इस श्लोक में कामकला बीज का ध्यान बताया गया है, परन्तु शास्त्रकारों ने मुमुक्षुजनों के लिए इसका निषेध किया है । त्रिपुरोपनिषत् में कहा गया है कि—

यद्वा मण्डलाद्वा स्तनबिम्बमेकं
मुखं चाधस्त्रीणि गुहासदनानि ।
कामीकलां कामरूपां चिकित्वा
नरोजायते कामरूपश्च काम्यः ॥

अर्थात्—'सूर्य-चन्द्र के मण्डल रूप स्तन बिम्ब और नीचे की ओर एक मुख, इस प्रकार उपलक्षित त्रिपुरसुन्दरी देहत्रय रूप गुहा में स्थित परमेश्वर की कला कामरूप चिद्शक्ति का ध्यान करके मनुष्य अपनी कामनाएँ पूर्ण करता हुआ अपनी इच्छानुसार ही कामरूप होता है।' परन्तु काम्यफल जन्मादि का कारण होता है, इसलिए त्रैवर्णिक मुमुक्षुओं को काम्योपासना नहीं करनी चाहिए।

हरमिहिर पद का अर्थ शिवपत्नी पार्वती अथवा शिव शक्ति रूप आदि शक्ति लिया जाना चाहिए। कामकला का बीज ईकार है, इस ईकार का नीचे का भाग हकार का आधा भाग हो सकता है। वैसे हकार शिवबीज के रूप में प्रयुक्त होता है। शिवबीज के अर्द्ध भाग रूप में कामकला का बीज शक्तिरूप में परिणत हो सकता है। इस प्रकार जगज्जननी पार्वती के रूप में आदिशक्ति के ध्यान का संकेत मिलता है।

त्रिलोकी को स्त्री की उपमा देकर उसके सूर्य-चन्द्र रूपी दो स्तन कल्पित किये गये हैं। इसका यह भाव स्पष्ट है कि सूर्य प्राणरूप दुग्ध का पान कराते और चन्द्रमा अमृतरूपी दुग्ध का। इससे यह सिद्ध हुआ कि ग्रन्थकार ने सूर्य और चन्द्रमा की लोकोपकारकता पर प्रकाश डाला है और साथ ही संसार की सभी स्त्रियों में मातृभाव की भावना की है।

ऊपर एक बिन्दु, उसके नीचे दो बिन्दु कहने से विश्व प्रपंच की तीनों अवस्थाओं की ओर भी संकेत हो सकता है। 'योग-कुण्डल्युपनिषत्' श्रुति (३।५) के अनुसार 'मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्ति स्थिति कारणम्' अर्थात् 'उत्पत्ति स्थिति का प्रधान कारण मन रूप बिन्दु ही है।' इससे आगे कहा है—

मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम्।
न च बन्धनमध्यस्थं तद्बै कारण मानसम्॥
चन्द्रार्क मध्यमा शक्तिर्यत्रस्था तत्र बन्धनम्।
ज्ञात्वा सुषुम्ना तद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम्॥

—योगकुण्डलि ३।६-७

अर्थात्—यह बिन्दु मन से ही उत्पन्न होता है, जैसे कि दूध से घृत। उस बिन्दु में कुछ भी बन्धन नहीं है, यदि कुछ बन्धन है तो वह मन का ही है। सूर्य और चन्द्रमा के मध्य में जो शक्ति रहती है, वह बन्धन रूप है, इसलिए इन दोनों के मध्य स्थित सुषुम्ना का ज्ञान प्राप्त करके उसके भीतर प्राणवायु का संचालन करे।

यह योग की वह विधि है जिसके सिद्ध होने पर योगी 'ब्रह्माण्डमयो भवेत्' अर्थात् ब्रह्माण्ड मय हो जाता है। फिर तीन बिन्दु और उसके नीचे हकार का अर्धभाग मिलकर जो साढ़े तीन मात्राएँ हुईं और ध्यानबिन्दूपनिषत् के अनुसार 'त्रिमात्रमर्धमात्रं वा यस्तं वेद स वेदवित्' अर्थात् 'जो तीन मात्रा और अर्धमात्रा को जानता है वही वेद का जानने वाला है।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि 'बिन्दुः शिवो रजः शक्तिः' अर्थात् बिन्दु शिव और रज शक्ति है। इन दोनों के संयोग योगी की परमदेह की प्राप्ति होती है और 'बिन्दुरिन्दू रजो

रविः' अर्थात् 'चन्द्रमा बिन्दु और सूर्य रज है।' वायु द्वारा शक्ति के चालित करने से जब रज आकाश को प्रेरित होता हुआ सूर्य के साथ मिल जाता है, तभी शरीर में दिव्यता आती है।

इस प्रकार योगी का शरीर दिव्य होने पर उसमें अद्भुत रूप-लावण्य भर जाता है, उसकी तेजस्विता स्त्रियों के मन को अपनी ओर आकर्षित करती है और तब उनमें कामोद्वेगरूपी क्षोभ उत्पन्न होजाता है। परन्तु योगी को उन स्त्रियों के प्रति कोई आकर्षण नहीं हो सकता। वह तो उस अमृतत्व रूपी दुग्ध की खोज में होता है, जिसकी प्राप्ति प्रकृति के विराट् शरीर में स्थित चन्द्र-सूर्य रूपी रत्नों से हो सकती है और उसकी प्राप्ति का उपाय एक ही है–ब्रह्मविद्या, जिसे इसकी प्राप्ति होगई, उसे कुछ और प्राप्त करना शेष नहीं रहता।

किरन्तीमंगेभ्य. किरणनिकुरम्बामृतरसं
हृदि त्वामाधत्ते हिमकरशिलामूर्तिमिव यः।
स सर्पाणां दर्पं शमयति शकुन्ताधिप इव
ज्वरप्लुष्टान्दृष्टया सुखयति सुधाऽऽधारसिरया॥२०

टीका—जो पुरुष तुम अपने अंगों से अमृतरस रूपी रश्मि-समूह की वर्षा करने वाली को हृदय में धारण करता और हिम-कर (चन्द्रमा) की शिलामूर्ति के समान ध्यान करता है, वह जैसे गरुड सर्पों के दर्प का शमन करता है वैसे ही अपनी सुधा-धार वर्षिणी नाड़ी के द्वारा दृष्टि भाव से ही ज्वर से पीडित मनुष्यों को सुखी कर देता है॥२०॥

व्याख्या—इस श्लोक में लोक हित कामना और शक्तिपात करने की सिद्धि की ओर संकेत है। योग की सिद्धियों में ऐसी

कोई भी सिद्धि नहीं जो परहित के लिएकाम में न लाई जा सके योग की विधियों के द्वारा मनुष्य अपनी मानसिक और बौद्धिक शक्ति का विकास करके ऐसी सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है,जिससे कि उसके लिए असंभव कुछ नहीं रहता ।' वह रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि सभी को जीत कर परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान तो प्राप्त करता ही है, साथ ही पराये हित में संलग्न रहना भी वह अपना परम कर्त्तव्य समझता है । गीता में कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

—भ० गी० ६।३२

अर्थात्—जो दूसरों को आत्मवत् समझ कर उनकेसुख-दुःख को अपना ही सुख दुःख समझता है वही परमयोगी है ।

हिमकर-शिला से तात्पर्य उस चन्द्रकान्त मणि से है जो चन्द्रमा की शीतल किरणों से द्रवीभूत होजाती है । उसी प्रकार चन्द्र मण्डल के आज्ञा चक्र में स्थित नीचे की ओर मुख किये हुए चन्द्र बिम्ब से हृदय में धारण की हुई भगवती की चन्द्रकान्त मणि से निर्मित मूर्ति भी अपने अंग-प्रत्यंग से अमृत की धार सींचने लगती है । इस प्रकार भगवती अपने उपासक को ब्रह्म-रूपी अमृत का पान कराती हैं । मैत्रेय्युपनिषत् में कहा है—

ब्रह्मामृतं पिबेद्भैक्षमाचरेद्देह रक्षणे ।
वसेदेकान्तिको भूत्वा चैकान्ते द्वैतवर्जिते ।
इत्येवमाचरेद्धीमान्स एव मुक्तिमाप्नुयात् ॥

अर्थात्—ब्रह्म रूप अमृत पीना और शरीर टिका रहे इस उद्देश्य से भिक्षा माँगना, द्वैत-रहित स्थान में स्वयं अकेला

रहना इस प्रकार का आचरण करता हुआ बुद्धिमान पुरुषमुक्ति को प्राप्त होता है।

योगी में सब प्रकार की सामर्थ्य होती है, उसके लिए सर्प का भय कोई महत्व नहीं रखता। जैसे कि गरुड़ सर्प का दर्प खण्डन करने में समर्थ है, वैसे ही योगी भी सर्प के दर्प को, विष को दूर कर सकता है। कुण्डलिनी स्वरूपा नागिन ने जिसयोगी के हृदय को अपना निवास-स्थान बना रखा है, उस पर सर्प-देहधारी जीवों के विष का कोई प्रभाव नहीं होता।

इस श्लोक में गरुडब्रह्मविद्या का भी संकेत मिलता है। इस के साधक को सर्प-विष-नाश की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। गरुडोपनिषत् के अनुसार—

एवं ध्यायेत् त्रिसंध्यासु गरुडं नागभूषणम्।
विषं नाशयते शीघ्रं तूलराशिमिवानलः ॥

अर्थात्—इस प्रकार तीनों संध्याकाल में नागभूषण गरुड का ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने से विष ऐसे समाप्त होजाता है जैसे कि अग्नि द्वारा रुई का ढेर भस्म हो जाता है।

तडिल्लेखातन्वीं तपन शशिवैश्वानर मयीम्
निषण्णां षण्णामप्युपरि कमलानांतव कलाम् ।
महापद्माटव्या मृदितमलमायेन मनसा
महान्तः पश्यन्तो दधति परमानंदलहरीम् ।२१।

टीका—तुम्हारी विद्युत-रेखा के समान पतली सूर्य, चन्द्र और अग्निमयी कला को छः कमलों से ऊपर स्थित कमलों के

महावन (सहस्रार) में ~~मल की माया~~ से विशुद्ध हुए मन के द्वारा जो महानात्मा पुरुष देखते हैं, वे परमानन्द की लहर को धारण करते हैं ।।२१।।

व्याख्या—इस श्लोक में आज्ञाचक्र के ऊपरमूर्धा में अवस्थित ज्योति के दर्शन का संकेत किया है। जब कुण्डलिनी प्राणवायु की उष्णता से तप्त होकर और वायु द्वारा संचालित होकरसीधी होती है और फिर सुषुम्ना के मुख में प्रवेश करती है तब—

> ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा रजोगुणसमुद्भवम् ।
> सुषुम्नावदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव संस्फुरेत् ।।
>
> —यो कु० उ० १।६७

अर्थात्—रजोगुण से उत्पन्न ब्रह्मग्रन्थि को भेद कर यह कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना के भीतर बिजली की रेखा के समान चढ़ती है।

षट्चक्र-भेदन के विषय में पहले श्लोकों में प्रकाश डाल चुके हैं। षट्चक्र-भेदन होने पर कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार में उठ कर चन्द्र, सूर्य और विद्युत् (अग्नि) तीनों के तेज से सम्पन्न होती है। जिन योगियों के मन से मायी मल दूर होजाता है वे ही उसका दर्शन करने में समर्थ होते हैं। उस समय वह दर्शन परमानन्द प्रद होता है। क्योंकि 'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते' (ईशा० १४) अर्थात् 'वह मृत्यु को पार कर अविनाशी ब्रह्म की उपासना द्वारा वह अमृत को भोगता है।

दर्शन का लाभ सभी साधकों को नहीं मिल जाता, उसकी प्राप्ति तो किसी-किसी को ही होती है। 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगा-

त्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' (कठोपनिषत्) अर्थात् 'किसी-किसी मेधावी ने ही अमृतत्व की कामना करते हुए चक्षु आदि को भीतर की ओर प्रेरित कर आत्मा के दर्शन किये हैं।' ब्रह्मविद्योपनिषत् में कुण्डलिनी शक्ति की कला का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

सामवेदस्तथा द्यौश्चहवनीयस्तथैव च।
ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तितः ॥
सूर्यमण्डल मध्येऽथ ह्यकारः शंखमध्यगः।
उकारश्चन्द्रसंकाशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः॥
मकारस्त्वग्निसंकाशो विधूमो विद्युतोपमः।
तिस्रो मात्रास्तथा ज्ञेयाः सोमसूर्याग्निरूपिणः।
शिखा तु दीपसंकाशा तस्मिन्नुपरिवर्तते।
अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता ॥

—ब्रह्मविद्या० ६-९

अर्थात्—मकार का शरीर सामवेद, आह्वानीय अग्नि, स्वर्ग और परमदेव ईश्वर कहा है। शंख के मध्य का अकार सूर्य-मण्डल में तथा चन्द्रमा के समान उकार उसी चन्द्रमा में स्थित है। निर्धूम अग्नि और विद्युत् का मकार है। इस प्रकार तीन मात्राओं को सूर्य, चन्द्र और अग्नि रूप समझना चाहिए। जैसे दीपक की शिखा दीपक के ऊपर रहती है,वैसे ही प्रणव के ऊपर अर्द्धमात्रा की स्थिति ज्ञातव्य है।

इस प्रकार प्रणव कला को शक्ति की ही कला माना गया है जिसके दर्शन सहस्रार में होने संभव हैं। परन्तु शुद्ध अन्तःकरण वाले योगियों को ही उसके दर्शन हो सकते हैं। मण्डल ब्राह्मणोपनिषत् में शाम्भवी मुद्रा का लक्षण बताते हुए कहा है—

आदावग्निमण्डलम्, तदुपरिसूर्यमण्डलम्, तन्मध्ये सुधा चन्द्र मण्डलम्, तन्मध्येऽखण्ड ब्रह्मतेजोमण्डलम्, तद्विद्युल्लेखावच्छुक्लभास्वरम्, तदेवशाम्भवी लक्षणम्। तद्दर्शने त्रयो दृष्टय अमा प्रतिपत्पूर्णिमा चेति, निमीलितदर्शनममादृष्टि:, अर्धोन्मीलितं प्रतिपत्, सर्वोन्मीलनं पूर्णिमा भवति। तासु पूर्णिमाऽभ्यास: कर्त्तव्य:। तल्लक्ष्यं नासाग्रम्, तदातालुमूले गाढतमो दृश्यते, तदभ्यासादखण्डमण्डलाकार ज्योतिर्दृश्यते, तदेव सच्चिदानन्द ब्रह्म भवति॥

अर्थात्—प्रथम अग्निमण्डल है, उसके ऊपर सूर्यमण्डल है, उसके मध्य में अमृतरूप चन्द्रमण्डल है और उसके भी मध्य में अखण्ड ब्रह्मतेजो मण्डल है, जो कि विद्युत्-रेखा के समान शुभ्र और प्रकाशमान है। यही लक्षण शाम्भवी मुद्रा का है। उसका दर्शन होने पर तीन मूर्ति रूप दिखाई देते हैं—(१) अमावस्या रूप, (२) प्रतिपदा रूप, और (३) पूर्णिमा रूप। निमीलित (बन्द) दृष्टि अमावस रूप है, अर्द्धनिमीलित दृष्टि प्रतिपदा रूप और सम्पूर्ण रूप से खुली हुई दृष्टि पूर्णिमा रूप है। इन तीनों में से पूर्णिमा रूप दृष्टि का अभ्यास करना चाहिए। उसका लक्ष्य नासाग्र है। जब तालु मूल में प्रगाढ़ अन्धकार दिखाई देता है, तब उसके अभ्यास से अखण्ड मण्डलाकार ज्योति के दर्शन होते हैं, वही सच्चिदानन्द ब्रह्म है।

इस प्रकार जाग्रत हुई कुण्डलिनी जगाने वाले के मन में जमे हुए आसक्ति पूर्ण संस्कारों को चबाकर, उनके स्थूल भाव को सूक्ष्म भाव में परिवर्तित कर देती है। उस समय साधक के सम्पूर्ण मैल दूर होकर अन्त:करण पवित्र होजाता है, तब वह भगवती सच्चिदानन्द ब्रह्म के साक्षात्कार में सहायक

होती है। उक्त श्लोक में ग्रन्थकार का यही तात्पर्य प्रतीत होता है।

भवानि त्वं दासे मयि वितर दृष्टिं सकरुणा-
मिति स्तोतुं वांछन् कथयति भवानित्वमिति यः।
तदैव त्वं तस्मै दिशसि निजसायुज्यपदवीं
मुकुन्दब्रह्मेन्द्रस्फुट मुकुटनीराजितपदाम् ॥२२॥

टीका—हे भवानि ! तुम इस दास पर भी अपनी करुणामयी दृष्टि डालो। इस प्रकार स्तुति करता हुआ कोई मुमुक्षु जब 'भवानि त्वं'अर्थात् 'मैं तुम होजाऊँ" इतना ही कह पाता है, तब तुम तत्काल उसे अपनी सायुज्य पदवी प्रदान कर देती हो। उस पदवी की विष्णु, ब्रह्मा और इन्द्र भी अपने मुकुटों के प्रकाश से आरती उतारते हैं ॥२२॥

व्याख्या—इस श्लोक में भगवती का शीघ्र प्रसन्न होना प्रदर्शित किया गया है। ग्रन्थकार का मत है कि ब्रह्म की सायुज्य पदवी प्राप्त करने के लिए अन्य कोई साधन इतना सुलभ-सहज नहीं, जितना कि भगवती की उपासना है। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि साधक उसमें नितान्त तन्मय होजाय, ऐसा तन्मय कि उसे अपनेपन का भी होश न रहे। उसके रोम-रोम में भगवती ही बसी हुई हो, तभी वह स्थिति उत्पन्न हो सकती है कि 'भवानि त्वं' कहते ही उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाय। योग-दर्शन के अनुसार 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' अर्थात् 'उसी समय द्रष्टा (आत्मा) की अवस्थिति अपने ही स्वरूप में हो जाती है।' इसका व्याख्यान इस प्रकार समझना चाहिए कि जैसे तीक्ष्ण पवन चलते रहने से जल में लहरें उठती रहती हैं, और

पवन के रुकते ही लहरों का उठना बन्द हो जाता है, वैसे ही वृत्तियों का निरोध होने पर चित्त के कर्त्तापन का अभिमान मिट जाता है। अर्थात् 'मैं सुखी हूँ' या 'मैं दु:खी हूँ' ऐसे अभिमान की निवृत्ति हो जाती है, तब वृत्तिरूप परिणाम का होना रुक कर आत्मा का अपना शुद्ध स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगता है। यही आत्म-दर्शन है, इसी को कैवल्य स्थिति अथवा सायुज्य-पद-प्राप्ति भी कह सकते हैं।

प्रत्येक समय, प्रत्येक क्षण, प्रत्येक स्थिति और प्रत्येक श्वास में भगवती का स्मरण और उनके ध्यान में तन्मयता से साधक भगवतीमय होजाता है, उसका कारण 'तत्र ध्यानजमनाशयम्' (यो० द० ४।६) अर्थात् 'उनमें ध्यान जनित चित्त कर्म के संस्कारों से रहित हो जाता है' सरस्वतीरहस्योपनिषत् के अनुसार—

यां विदित्वाऽखिलं बन्धं निर्मथ्या खिलवर्त्मना।
योगी याति परं स्थानं सा मां पातु सरस्वती॥

अर्थात्—जिन भगवती को जान लेने पर योगीजन सभी बन्धनों को काट डालते हैं, जिससे पूर्ण मार्ग द्वारा उन्हें परमपद की प्राप्ति होती है। वे सरस्वती मेरी रक्षा करें।

जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान होना समाधि है ('समाधि: संविदुत्पत्ति: पर जीवैकतां'—अन्नपूर्णोपनिषत्) और वह एकता तभी संभव है जबकि साधक अपने मन से सभी प्रकार की वासनाओं को निकाल दे और भ्रान्तिरूप द्वैत का भी त्याग कर दे। इसीसिए त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषत् ने साधक को निर्देश दिया है—

मनसा परमात्मानं ध्यात्वा तद्रूपतामियात् ।

अर्थात्—मन से परमात्मा का ध्यान करता हुआ उसकी एक रूपता को प्राप्त होने का यत्न करे ।

मोक्ष चार प्रकार की मानी गई है—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य । इनमें सायुज्य ही सब में श्रेष्ठ है । इसी प्रकार विष्णुलोक, ब्रह्मलोक और इन्द्रलोक सभी उस परमपद से नीचे हैं । और पुराणों के अनुसार तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र और अन्यान्य सभी देवता भगवती की उपासना में तल्लीन रहते है । देव्युपनिषत् में देवी स्वयं कहती हैं—

अहं मित्रावरुणावुभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनावुभौ अहं सोमे त्वष्टारं पूषणं भगं दधाम्यहम् । विष्णुमुरुक्रमं ब्रह्माण-मुत प्रजापतिं दधामि ॥

अर्थात्—मैं ही मित्रावरुण, इन्द्र, अग्नि और अश्विनीकुमारों का पालन करने वाली हूँ । सोम, पूषा, भग और त्वष्टा को मैं ही धारण करती हूँ । तीनों लोकों को आक्रान्त करने के उद्देश्य से पदक्षेप करने वाले विष्णु, ब्रह्मा और प्रजापति के धारण करने वाली हूँ ।

इस प्रकार भगवती की उपासना में ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्रादि का आरती उतारना कह कर भगवती की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है ।

त्वया हृत्वा वामं वपुररितृप्तेन मनसा
शरीरार्द्धं शम्भोरपरमपि शंके हृतमभूत ।
यदेतत्त्वद्रूपं सकलमरुणाभं त्रिनयनं
कुचाभ्यामानम्रं कुटिलशशिचूडालमुकुटम् ॥२३॥

टीका—हे देवि ! शम्भु का अर्द्धांग हरण करके भी तुम्हारा मन अतृप्त ही रहा । अब यह शंका होने लगी है कि कहीं दूसरे

अर्द्धांग का भी हरण न कर लिया हो, क्योंकि वह समूचा शरीर अरुण वर्ण की आभा के कारण तुम्हारा ही दिखाई देता है। वह शरीर तीन नयन युक्त और कुच-भार से कुछ झुका हुआ-सा है और केशों पर द्वितीया का टेढ़ा अर्द्ध चन्द्र मुकुटरूप से सुशोभित है।

व्याख्या—इस श्लोक में अर्द्धनारीश्वर शिव और उनकी शक्ति की प्रधानता का वर्णन हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि शिवत्व और शक्तित्व में कोई भेद नहीं है। क्योंकि शिव का जो शरीर है, वह आधा शक्ति का और आधा शिव का है और उस आधे पर भी शक्ति की इतना अधिक सत्ता प्रदर्शित की है कि शिव भी भगवतीमय होगए हैं।

भगवती का स्वरूप वर्णन करते हुए इसमें तीन नयन होना कहा है, जो कि शिव-स्वरूप को परिलक्षित कराता है। साथ ही शरीर में अरुण वर्ण की आभा बताना भी भगवती की ओर ही संकेत करता है, क्योंकि भगवती का वर्ण ही अरुण है। साथ ही कुच-भार से झुका हुआ कहने का उद्देश्य भी यही है कि इस श्लोक का अभिप्राय शिव से नहीं, वरन् शिव-शक्ति से ही है। शिव पुराण शतरुद्र संहिता में अर्द्धनारीश्वर शिव का प्रादुर्भाव वर्णन करते हुए कहा है—

शिवाय परया शक्त्या संयुक्तं परमेश्वरम्।
संचिन्त्य हृदये प्रीत्या तपेशं परमं तपः॥
ततः पूर्ण चिदीशस्य मूर्तिमाविश्य कामदाम्।
अर्द्धनारी नरो भूत्वा ततो ब्रह्मान्तिकं हरः॥

पृथक्चकार वपुषो भागाद्देवीं शिवां शिवः ।
तां दृष्ट्वा परमांशक्ति पृथग्भूतां शिवागताम् ।
प्रणिपत्य विनीतात्मा प्रार्थयामास तां विधिः ॥

अर्थात्—परम शक्ति शिवा से समन्वित परमेश्वर शिव का हृदय में ध्यान करते हुए ब्रह्मा तप में लीन होगए । तदनन्तर पूर्ण चिद्रूप शिव ने अपनी काम-प्रदायिनी मूर्ति में प्रविष्ट होकर आधा नारी और आधा पुरुष का स्वरूप होकर ब्रह्माजी के निकट पदार्पण किया । उन्होंने अपने शरीर के अर्द्ध भाग मे शक्तिमयो देवी शिवा को प्रकट किया तो उनका स्वरूप शिव से पृथक् स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा ।

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड शिवमय है । इस ब्रह्माण्ड में सभी पुल्लिगात्मक पदार्थ रुद्ररूप और सभी स्त्रीलिंगात्मक पदार्थ उमा रूप हैं । रुद्रहृदयोपनिषत् में इस पर अच्छा प्रकाश डाला है—

पुलिंगं सर्वमीशानं स्त्रीलिंगं भवत्युमा ।
उमा रुद्रात्मिका:सर्वा:प्रजा:स्थावरजंगमा ।
व्यक्तं सर्वमुमारूपमव्यक्तं तु महेश्वरम् ।

अर्थात्—सृष्टि में जो कुछ भी पुल्लिगरूप है वह सब रुद्र और जो कुछ भी स्त्रीलिंगरूप है वह सब उमा हैं । इस प्रकार यह सम्पूर्ण स्थावर-जंगम सृष्टि ही उमारूप और रुद्र रूप है । अव्यक्त संसार रुद्ररूप और व्यक्त संसार भगवती उमा रूप है । इसीलिये उक्त उपनिषद् में ही 'रुद्रो नर उमा नारी तस्मै तस्यै नमो नमः' कह कर शिव के रूपद्वय में सृष्टि को रुद्र रूप पुरुष और उमारूप नारो बता कर शिव-पार्वती को नमस्कार किया गया है ।

प्रकृति ही शिव की शक्ति है, उसी के द्वारा नामरूप वाले जगत् की रचना होती है निरालम्बोपनिषत् ने इस पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

'ब्रह्मण: सकाशान्नानाविचित्रजगन्निर्माण सामर्थ्य-बुद्धिरूपा ब्रह्मशक्तिरेव प्रकृति:' अर्थात् 'जिसमें अनेक प्रकार के विचित्र विश्वों को रचने की सामर्थ्य है, ऐसी ब्रह्म की बुद्धिरूप शक्ति ही प्रकृति कहलाती है। फिर इसी उपनिषद् में आगे कहा है कि वही ब्रह्म ब्रह्मा, विष्ण, इन्द्र, यम, सूर्य-चन्द्र, देव, असुर, पिशाच, मनुष्य, स्त्री आदि के रूप में स्वयं ही प्रकट हुआ है। यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है, उससे भिन्न कहीं कुछ नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्त्री आदि के रूप में भी सर्वत्र वही विद्यमान है और वही अपनी शक्ति के रूप में चाहे जब स्त्रीरूप से दिखाई देने लगता है।

जगत्सूते धाता हरिरवति रुद्र: क्षपयते
तिरस्कुर्वन्नेतत्स्वमपि वपुरीश: स्थिरयति।
सदा पूर्व: सर्वं तदिदमनुगृह्णाति च शिव-
स्तवाज्ञामालम्ब्य क्षणचलितयोर्भ्रूलतिकयो:॥२४॥

टीका—ब्रह्मा जगत् की सृष्टि, विष्णु पालन और रुद्र संहार करते हैं। सब का तिरस्कार करते हुए ईश्वर अपने को स्थिर रखते और 'सदा' शब्द से सम्पन्न शिव सब को निगल जाते हैं अथवा तुम्हारे क्षण-क्षण में चंचल भ्रूलताओं की आज्ञा का आलम्बन कर सब प्राणियों पर अनुग्रह किया करते हैं ॥२४॥

व्याख्या—सम्पूर्ण चराचर जगत् सदाशिव मय है। ब्रह्मा सृष्टि को रचते, विष्णु जगत् का पालन करते और रुद्र

संहार करते हैं। यह सब भी सदा शिवमय तथा शिवरूप ही हैं। शिवपुराण वायु सहिता के अनुसार सम्पूर्ण विश्व शिवमय ही है-

स शिवः सर्वमेवेदं स्वकीयाभिश्च मूर्तिभिः ।
अधितिष्ठत्यमेयात्मा ह्येतत्सर्वमनुस्मृतम् ।।
ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रो महेशानः सदाशिवः
मूर्त्तयस्तस्य विज्ञेया याभिर्विश्वमिदं ततम् ।।

अर्थात्—यह शिव ही अपनी मूर्तियों से अधिष्ठित होकर इस सर्व प्रपंच का ज्ञाता है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेशान और सदाशिव सब उसी की मूर्ति हैं, सम्पूर्ण विश्व उन्ही से विस्तार को प्राप्त हैं। रुद्रहृदयोपनिषत् के अनुसार—

सर्व देवात्मको रुद्रः सर्वे देवाः शिवात्मकाः ।
रुद्रस्य दक्षिणे पार्श्वे रविब्रह्मा त्रयोऽग्नयः ।।
वामपार्श्वे उमादेवी विष्णुः सोमोऽपि ते त्रयः ।

अर्थात्—भगवान रुद्र में सभी देवता निवास करते हैं। और सभी देवता शिवा स्वरूप हैं। रुद्र के दक्षिण पार्श्व में सूर्य,ब्रह्मा तथा तीनों अग्नियों की स्थिति है, तथा वाम पार्श्व में उमा, विष्णु और चन्द्रमा स्थित हैं।

उक्त श्लोक में त्रिदेवों का अभेद-दर्शन भी होता है। क्योंकि परमात्मा में नाम रूप कुछ नहीं है, वह सब नाम-रूपों का तिरस्कार कर एक अचिन्त्यरूप से ही सदा स्थित रहता है। ब्रह्मा, विष्णु या शिव नाम उनके कार्य-भेद से ही होते हैं। क्योंकि यह सम्पूर्ण सृष्टि ही शिवात्मक है। स्कन्दोपनिषत् के अनुसार—

जीवः शिवः शिवो जीवः स जीवः केवलः शिवः ।
तुषेण बद्धो ब्रीहिः स्यात् तुषाभावेन तण्डुलः ।।

एवं बद्धस्तथा जीवः कर्मनाशे सदाशिवः ॥
पाशबद्धस्तथा जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः ॥
शिवाय विष्णुरूपाय शिवरूपाय विष्णवे ।
शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः ॥

अर्थात्—जीव ही शिव है और शिव ही जीव है, यह जीव केवल शिव ही है। जैसे धान का छिलका हट जाने पर चावल निकल आता है, वैसे ही बन्धन में पड़ा हुआ जीव कर्मों का नाश होने पर सदाशिव होजाता है और पाश में पड़ा जीव पाशमुक्त होकर सदाशिव ही बन जाता है। शिव ही विष्णु रूप और विष्णु ही शिवरूप हैं। शिव के हृदय मे विष्णु का और विष्णु के हृदय में शिव का निवास होता है।

वह ब्रह्म ही अनेक नाम रूप धारण करके व्यक्त होता है, इस विषय में निरालम्बोपनिषत् में अत्यन्त स्पष्ट और विस्तृत विवेचन हुआ है। यथा—

स होवाचमहदहंकार पृथिव्यप्तेजोवाटवाकाशत्वेन वृहद्रूपेणाण्डकोशन कर्मज्ञानार्थरूपतया भासमानमद्वितीयमखिलोपाधि विनिर्मुक्तं तत्सकलक्त्युपबृहितमनाद्यनन्तं शुद्धं शिवं शान्तं निर्गुणमित्यादिवाच्यमनिर्वाच्यं चैतन्यं ब्रह्म। ईश्वर इति च।

ब्रह्मैव स्वशक्ति प्रकृत्यभिधेयामाश्रित्य लोकान्सृष्ट्वा प्रविश्यान्तर्यामित्वेने ब्रह्मादीनां बुद्धीन्द्रियनियन्तृत्वादीश्वरः जीव इति च।

ब्रह्मविष्णवीशानेन्द्रादीनां नामरूप द्वारा स्थूलोऽहमिति मिथ्याध्यासवशाज्जीवः। सोऽहमेकोऽपि देहारम्भकभेदवशाद्बहुजीवः॥

अर्थात्—महत्तत्व, अहंकार, पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश रूप में, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड रूप में तथा कर्म-ज्ञान-अर्थ रूप में भासमान होने पर भी, इन समस्त उपाधियों से रहित, अद्वितीय, समस्त शक्तियों से युक्त, आदि-अन्त रहित, शुद्ध, पवित्र, शान्त, निर्गुण और अवर्णनीय ऐसा जो चैतन्य है, पर-ब्रह्म कहलाता है। अब ईश्वर का स्वरूप बताते हैं—यह ब्रह्म ही जब अपनी प्रकृति नाम की शक्ति का आश्रय लेकर लोकों को उत्पन्न करता है और अन्तर्यामी रूप से उनमें प्रवेश करके ब्रह्मा आदि जीवों की बुद्धि, इन्द्रियों आदि को नियम में रखता है, तब वह ईश्वर कहलाता है। जब इस चैतन्य को ब्रह्मा, विष्णु शिव, इन्द्र आदि नाम-रूप द्वारा यह मिथ्या देहाभिमान उत्पन्न हो जाता है कि मैं स्थूल हूँ, तब वह जीव कहा जाने लगता है। यह चैतन्य 'सोऽहं' के रूप में एकत्व का अनुभव करता है, पर भिन्न-भिन्न शरीर के कारण वह जीवरूप बन जाता है।

प्रलय-काल में नाम-रूप वाला सम्पूर्ण जगत् उस ब्रह्म में ही लीन होजाता है। वही नित्य, एक, सर्वनियन्ता एवं शिवरूप है। शिव ही पर से पर है, उसी में यह सम्पूर्ण जगत् समा जाता है। शरभोपनिषत् (३०-३१) में उनकी सामर्थ्य का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

एक एव शिवो नित्यस्ततोऽन्यत्सकलं मृषा।
तस्मात्सर्वान्परित्यज्यध्येयान्विष्णवादिकान्सुरान् ॥
शिव एव सदाध्येयः सर्व संसार मोचकः।
तस्मै महाग्रासाय महेश्वराय नमः ॥

अर्थात्—एक मात्र शिव ही नित्य है और अन्य सब मिथ्या है, इसलिए विष्णु आदि सभी देवताओं का त्याग कर संसार-

बन्धन छुड़ाने वाले एकमात्र शिव का ही ध्यान करना चाहिए। सब का संहार करने वाले उन महेश्वर शिव को नमस्कार है।

इस प्रकार ग्रन्थकार का अभिप्राय स्पष्ट है कि अपनी शक्ति की उपासना से प्रसन्न हुए शिव उसके संकेत मात्र पर सब जीवों पर अनुग्रह करते रहते हैं। यहाँ चंचल-भ्रूलताओं की आज्ञा का अर्थ उपासक की आकांक्षा से लिया जा सकता है। सच्चे उपासक की आकांक्षा भी स्वयं एक शक्ति बन जाती है। क्योंकि गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

—गीता १२।२०

अर्थात्—जो पुरुष मेरे परायण होकर विशुद्ध प्रेम से मेरी प्राप्ति के लिए तत्पर हुए श्रद्धायुक्त उपर्युक्त इस धर्ममय अमृत को निष्काम भाव से सेवन करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

त्रयाणां देवानां त्रिगुणजनितानां तव शिवे
भवेत्पूजा पूजा तव चरणयोर्या विरचिता।
तथाहि त्वत्पादोद्वहनमणिपीठस्य निकटे
स्थिताह्यते शश्वन्मुकुलितकरोत्तं समुकुटाः॥२५॥

टीका—हे शिवे! तुम्हारे चरणों की पूजा करने से तुम्हारे तीनों गुणों से उत्पन्न इन तीनों देवों (ब्रह्मा, विष्णु, शिव) की भी पूजा होती है। इसलिए यह उचित है कि यह तीनों देवता तुम्हारे चरणों को धारण करने वाले मणि-निर्मित सिंहासन के

निकट अपने मुकुटों की शोभा-वृद्धि के निमित्त करबद्ध खड़े रहते हैं ॥२५॥

व्याख्या--ब्रह्मा, विष्णु शिव, यह त्रिदेव शिव-शक्ति के तीनों गुणों से उत्पन्न हुए हैं। 'तस्या एव ब्रह्माऽजीजनत्, विष्णुरजीजनत्, रुद्रोऽजीजनत्' (वृहवृचोपनिषत्) अर्थात् 'उन्हीं देवी से ब्रह्मा, बिष्णु और रुद्र का प्रादुर्भाव हुआ।'

'सैंषा सत्त्वरजस्तमांसि' इत्यादि (देव्युपनिषत्) के अनुसार शिव-शक्ति शिवा ही त्रिदेवात्मिका एवं सत्व-रज-तम रूप हैं। इससे 'साऽब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी' अर्थात् 'मैं ब्रह्मस्वरूपिणी हूँ' देवी का यह कथन इस तथ्य को सिद्ध करता है कि उनमें और शिव (ब्रह्म) में कोई भेद नहीं है, इसीलिए उनके चरणों की पूजा होने से त्रिदेवों की भी पूजा होजाती है। और विशेष रूप से इसलिए भी कि बहवृचोपनिषत् के कथनानुसार 'तस्या एव ब्रह्माऽजीजनत्, विष्णुरजीजनत्, रुद्रोऽजीजनत्' इत्यादि से उसी भगवती के द्वारा ब्रह्मा, विष्ण और रुद्र की उत्पत्ति हुई है।

'विष्णुमुरुक्रमं ब्रह्माणमुत प्रजापतिं दधामि' अर्थात् मैं ही विष्णु, ब्रह्मा और प्रजापति को धारण करती हूँ' इस शक्ति-वाक्य से श्लोक में जो त्रिदेवों का भगवती की सेवा में हाथ जोड़े खड़ा रहना कहा गया है, उसकी पुष्टि होती है और उसका अभिप्राय यही है कि भगवती ही सर्वोपरि हैं।

भगवती की सेवा से त्रिदेवों के मुकटों की शोभा-वृद्धि कहना भी उपयुक्त ही है। क्योंकि आश्रय देने वाले की शरण में रहने पर ही शरणागत की शोभा होती है। इसका अभिप्राय यह है कि अधीनस्थ व्यक्ति की शोभा अपने स्वामी के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने और उसकी सेवा करने में ही है। यदि वह स्वतन्त्र नहीं है तो उसका कल्याण इसी में है कि अपने से उच्च

सत्ता की आज्ञा पालन में तत्पर रहे। इसी में उसका सम्मान और कीर्ति भी निहित है।

'अनन्तां विजयां शुद्धां शरण्यां शिवदां शिवाम्'(देव्युपनिषत्) अर्थात् 'भगवती नित्या, विजयिनी, शरणदात्री और कल्याण दायिनी हैं।' उनके स्वरूप को ब्रह्मादि भी नहीं जान सकते (यस्याः स्वरूपं ब्रह्मादयो न जानन्ति) इससे देवी का सर्वोच्च ऐश्वर्य परिलक्षित होता है।

रुद्रहृदयोपनिषत् ने त्रिदेवों को ही सब जीवों का आत्मा कहा है, यथा—

अन्तरात्मा भवेद्ब्रह्मा परमात्मा महेश्वरः।
सर्वेषामेव भूतानां विष्णुरात्मा सनातनः॥

अर्थात्—इन जीवों के अन्तरात्मा ब्रह्म,परम आत्मा महेश्वर और सनातन आत्मा विष्णु हैं।

इस प्रकार सभी जीवों में त्रिदेवों की सत्ता व्याप्त है।'येऽर्चयन्ति हरि भक्त्या तेऽर्चयन्ति वृषभध्वजम्' अर्थात् जो विष्णु की पूजा करते हैं वे वृषभध्वज की ही पूजा करते हैं। इस प्रकार त्रिदेवों में से किसी एक की भी पूजा से तीनों देवों की ही पूजा होना सिद्ध है।

विरिंचिः पंचत्वं व्रजति हरिराप्नोति विरतिं
विनाशं कीनाशोभजति धनदो याति निधनम्।
वितन्द्राः माहेन्द्री विततिरपि सम्मीलति दृषां
महासंहारेऽस्मिन्विहरति सति त्वत्पतिरसौ ॥२६॥

टीका—हे सति ! इस महासंहार (प्रलय) काल में ब्रह्मा पंचत्व (मरण) को प्राप्त होता है और विष्णु विरति को प्राप्त

होजाते हैं। यमराज विनाश को तथा कुबेर भी मृत्यु को प्राप्त होता है। तन्द्रा-रहित सहस्र नेत्र वाले महेन्द्र भी अपनी विस्फारित (सर्वत्र देखने वाली) दृष्टि युक्त नेत्रों को बन्द कर लेते हैं। परन्तु तुम्हारे पति उस समय भी विहार करते रहते हैं ॥२६॥

व्याख्या—महाप्रलय के समय सम्पूर्ण विश्व प्रपंच तो लय को प्राप्त होता ही है, साथ ही सम्पूर्ण देवता भी लीन हो जाते हैं. एक मात्र ब्रह्म ही विद्यमान रहता है और उसकी शक्ति का भी ह्रास नहीं होता। शिव पुराण वायु संहिता में भी इसका वर्णन इस प्रकार हुआ है—

तत्रतत्र चतुर्वक्त्रा ब्रह्माणो हरयो भवा: ।
सृष्टा प्रधानेन तथा लब्ध्वा शंभोस्तु सन्निधिम् ॥
महेश्वर: परो व्यक्तादंडमव्यक्त संभवम् ।
अण्डाज्जज्ञे विभुर्ब्रह्मा लोकस्तेन कृतास्त्विमे ॥

अबुद्धिपूर्व: कथितो मयैष: प्रधान सर्ग: प्रथम: प्रवृत्त: ।
अत्यंतिकश्च प्रलयोऽन्तकाले लीलाकृत: केवलमीश्वरस्य ॥

अर्थात्—ब्रह्मा, विष्णु शिव भी उन्हीं स्थानों में स्थित एवं प्रधान द्वारा प्रकट होकर शिव-सन्निधि को प्राप्त हुए विश्व की रचना करते हैं। वे महेश्वर व्यक्त में परे हैं, उसी व्यक्त से अव्यक्त संज्ञक अण्ड हुआ, अण्ड से ब्रह्मा उत्पन्न हुए, जिन्होंने सब लोकों की रचना की। जीवों के आवरण विक्षेप युक्त यह प्रथम सर्ग कहा गया, अन्तकाल में आत्यन्तिक प्रलय होती है, यह सब महेश्वर की ई लीला है।

शिवपुराण की रुद्र संहिता में महाप्रलय काल का वर्णन करते हुए इस तथ्य की पुष्टि की गई है कि उस समय एक मात्र

ब्रह्म ही शेष रहता है और सब कुछ उसी में समा जाता है। यथा—

महाप्रलयकाले च नष्टे स्थावर जंगमे।
आसीत्तमोमयं सर्वमनर्कग्रहतारकम् ॥
अचन्द्रमनहोरात्रमनग्न्यनिलभू जलम्।
अप्रधान वियच्छून्यमन्यतेजोविवर्जितम् ॥
अदृष्ट्त्वादिरहितं शब्दस्पर्शसमुज्झितम्।
अव्यक्तगंधरूपं च रसत्यक्तमदिङ् मुखम् ॥
इत्थं सत्यंधतमसे सूचीभेद्ये निरन्तरे।
तत्सद्ब्रह्मेति यच्छ्रुत्वा सदेकं प्रतिपद्यते ॥

अर्थात्—महाप्रलय के समय जब स्थावर जंगम जगत् पूर्ण रूप से नष्ट होगया था तब ग्रह, तारागण, सूर्यादि के न होने से सर्वत्र अन्धकार था। चन्द्र,अग्नि,वायु, पृथिवी,जल, दिवस, रात्रि अप्रधान, आकाश एवं अन्य तेज भी नहीं था। शब्द, स्पर्श, गन्ध, रूप, रस, और सभी दृष्ट पदार्थ अदृष्ट थे। इस प्रकार के सूची-भेद्य सन्नाटे और निरन्तर अन्धकार में केवल सद्ब्रह्म ही था, उसी को एकमात्र सत् कहा गया है।

गीता में भी अर्जुन का कथन है कि 'अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति' अर्थात् 'सभी देवताओं के समूह आपमें ही प्रवेश करते हैं और अनेकों भयभीत *हुए हाथ जोड़ कर आपके नामगुणों का उच्चारण करते हैं।'*

त्वं चाहं च सर्वं विश्वं सर्वं देवता। इतरत् सर्वं महात्रिपुर-सुन्दरी। सत्यमेकं ललिताऽऽख्यं वस्तु तदद्वितीयमखण्डार्थं पर-ब्रह्म। (बहवृचोपनिषत्)

अर्थात्—मैं और तुम, सभी देवता और सम्पूर्ण विश्व सब कुछ वही देवी हैं। ललिता ही सत्य एवं परमब्रह्म तत्व हैं। पाँच रूपों (अस्ति, भाति, प्रिय, नाम, रूप) के त्यागने और अपने रूप के न त्यागने से जो सत्ता शेष रह जाती है, उसी को परम तत्व कहते हैं।

इस प्रकार महाप्रलय के समय भी अवशिष्ट सत्ता के रूप में शिव-शिवा की ही विद्यमानता स्वीकार की गई है। क्योंकि सब भूतों के आश्रय स्थान वही हैं, वही नित्य, विभु और सर्व व्यापक हैं, यथा—

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम्।
तद्भूतयोनिं पश्यन्ति धीरा आत्मानमात्मनि॥

—रुद्रहृदयोपनिषत् ३२

अर्थात्—'वही नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, निर्विकार और सब भूतों का आश्रय स्थान है। ज्ञानी पुरुष उस परमात्मा का दर्शन अपने ही आत्मा में करते हैं। शिव-पुराण में स्पष्ट कहा गया है—

कालदुत्पद्यते सर्वं कालादेव विपद्यते।
न काल निरपेक्षं हि क्वचित्किंचिद्धिविद्यते॥
यदा स्यान्तर्गतं विश्वं शश्वत्संसार मण्डलम्।
सर्ग संहृतिमुद्राभ्यां चक्रवत्परिवर्तते॥

अर्थात्—काल से ही सब की उत्पत्ति और लय है, क्योंकि काल कभी निरपेक्ष नहीं रहता। जब यह सम्पूर्ण विश्व लीन होजाता है तब पुनः उत्पन्न होता है, यह उत्पत्ति-संहार का क्रम चक्र के समान सदा चलता रहता है।

आगे चल कर पूछा गया है कि काल क्या है ? किसके वश में रहता है ? इसके उत्तर में कहा गया कि कला, काष्ठा, निमेष और कलाओं की वृद्धि, यह काल का शरीर है, यही कालात्मक महेश्वर का तेज कहलाता है। इसका उल्लंघन कोई भी स्थावर-जंगम जीव नहीं कर सकता। वह ईश्वर का नियोग रूप जगत् की रक्षा करने वाला है। उन्हीं महेश्वर की अंशमयी शक्ति लोहे में अग्नि के प्रवेश करने के समान जगत् में प्रवेश करती है, इसीलिए जगत् काल के वश में है, परन्तु काल किसी के वश में नहीं। केवल महेश्वर ही ऐसे हैं, जो कि काल के वश में नहीं होते।

इस प्रकार शिव-शक्ति स्वरूप काल ही विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में कारण है। उसके वश में देवता, दैत्य, यक्ष, गंधर्व, मनुष्य सभी हैं। इसलिए महाप्रलय काल में अपनी काल स्वरूपा शक्ति के सहित वे परमब्रह्म शिव ही जाग्रत रहते हैं। जब महाप्रलय होती है,तब सभी जीव एक उसी परमात्मा में आश्रय प्राप्त करते हैं। शिव-पुराण, वायु संहिता में कहा है—

आत्मन्यवस्थितेऽव्यक्ते विकारे प्रतिसंहृते ।
साधर्म्येणाधितिष्ठेते प्रधान पुरुषावुभौ ।।

अर्थात्—यह सम्पूर्ण विश्व आत्मा में स्थित होकर विकार युक्त प्रतिसंहृत होता है, उस समय यह प्रधान और पुरुष (शक्ति और शिव) साधर्म से युक्त होते हैं।

इस प्रकार, महाप्रलय होने पर सम्पूर्ण सृष्टि का उस ब्रह्म में लीन होना सिद्ध है। इससे शिव-शक्ति का जाग्रत् रहना कहा गया है, वह इसी भाव का सूचक होने से अनुपयुक्त नहीं है।

जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचनं
गतिः प्रादक्षिण्यं भ्रमणमशनाद्याहुति विधिः ।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदशा
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम् ॥२७

टीका—जप के समान वाणी की क्रिया (बोलना), मुद्राओं की विरचना के समान सब कर्मकाण्ड, प्रदक्षिणा के समान चलना, आहुति के समान भोजन करना, प्रणाम के समान शयन करना और सभी सुखों के उपभोग में आत्मसमर्पण की अवस्था, यह सब मेरा विलास तुम्हारा ही पूजन-क्रम होना चाहिए ॥२७॥

व्याख्या—मन्त्र-जप, कर्म-काण्ड की मुद्राएँ, प्रदक्षिणा, आहुति, प्रणाम आदि, यह सब उपासना के अंग हैं। उक्त श्लोक में इन सभी का प्रयोग पूजन-काल में करने की ओर संकेत किया प्रतीत होता है। वैसे स्फोटात्मक शब्दों का क्रम जल्प कहलाता है। अक्षरों के योग से बनने वाले पद मन्त्रों के ही समान होते हैं। केवल वर्णमाला के अक्षरों का उच्चारण भी एकाक्षरी मंत्र कहलाता है। इसीलिए शिव पुराणकार ने वर्णमाला के अक्षरों में ही शिव के ध्यान का प्रयोग निश्चित किया है—

ककारादिटकारान्ता वर्णाः पर्णान्यनुक्रमात् ।
भानुवर्णस्य पद्मस्य ध्येयं तद्धृदयान्तरे ॥
गोक्षीरधवलस्योक्ता डादिफान्ता यथाक्रमम् ।
अधो दलस्याम्बुजस्य एतस्य च दलानि षट् ॥
विधूमांगारवर्णस्य वर्णा बाह्याश्च लान्तिमाः ।
मूलाधारारविन्दस्य हेमाभस्य यथाक्रमम् ।
वकारादिसकारान्ता वर्णाः पर्णमयाः स्थिताः ॥

एतेष्वथारविन्देषु यत्रैवाभिरतं मनः ।
तत्रैव देवं देवीं च चिन्तयेद्धीरया धिया ॥

अर्थात्—समान वर्ण के पत्तों के अनुक्रम से ककार से टकार पर्यन्त अक्षरों की कल्पना करे और सूर्य के समान वर्ण वाले उस कमल में चारों ओर युक्त उन अक्षरों का हृदय में ध्यान करे। उन अक्षरों को कमल-पत्रों के रूप में कल्पित करना चाहिए। नाभि से ऊपर की ओर दूध के समान उज्वल वर्ण के डकार से फकार पर्यन्त अक्षरों को यथाक्रम रखे। नीचे की ओर के कमल में छः पत्तों की कल्पना करके उनमें अंगार जैसे वर्ण के बकार से लकार तक के अक्षरों की कल्पना करनी चाहिए। स्वर्ण के समान वर्ण वाले मूलाधार के पत्र वकार से सकार पर्यन्त के अक्षरों से युक्त है। इन कमलों में जहाँ मन रमे, वहीं धीर बुद्धि से शिव-पार्वती का चिंतन करना चाहिए।

इस प्रकार अक्षरों में मन्त्र की भावना की गई है और ग्रन्थकार ने साधक के बोलने को भी मन्त्र-जप के समान कह कर यह संकेत किया है कि साधक निरर्थक वार्तालाप से भी दूर रहे, वह जो कुछ बोले उसमें भी भगवती का ही उद्देश्य होना चाहिए।

साधक जो कुछ कार्य करे, वह सब उसी प्रकार का होना चाहिए। जैसे कि भगवती की उपासना में मुद्राओं का प्रयोग होता है। इसका अभिप्राय यह है कि उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ भगवती के उद्देश्य से ही होनी चाहिए, उनसे रहित कुछ भी नहीं।

'गतिः प्रादक्षिण्यं' से तात्पर्य चलते-फिरते में ऐसी भावना रहे, जैसे कि भगवती की परिक्रमा कर रहा हो। अर्थात् उस समय भी भगवती के ध्यान में ही रत रहे।

'अशनाद्याहुतिविधि:' से यह अभिप्राय है कि केवल शरीर-यापन के लिए ही भोजन करे, अर्थात् इतना अल्प आहार करे कि उससे शरीर चल सके। उस भोजन में भी यह भावना हो जैसे यज्ञाग्नि में आहुति डाली जारही है और यथार्थ रूप में भी भोजन उदराग्नि की तृप्ति के लिए आहुति के समान ही है। इसमें भाव यह है कि भोजन भी भगवती के उद्देश्य से ही करना चाहिए। जब तक भगवती की पूर्ण कृपा प्राप्त न होजाय, तब तक शरीर का चलाते रहना आवश्यक है और इसी उद्देश्य से भोजन किया जाना उचित है।

'प्रणाम: संवेश:' (प्रणाम शयन के समान) कहने से यह तात्पर्य समझना चाहिए कि शयन के लेटता हुआ साधक यह भावना करे कि मानों वह देवी को साष्टांग प्रणाम कर रहा है। इस प्रकार शयन में भी भगवती का ध्यान रखना आवश्यक है।

उक्त पदों से यही सिद्ध होता है कि श्री भगवत्पाद का मन्तव्य साधक की सम्पूर्ण क्रियाओं में देवी का भाव रखने का ही उपदेश करते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है 'सुखमखिलमात्मार्पण-दशा' अर्थात् सभी सुखों क उपभोग में भगवती के लिए आत्म-समर्पण की अवस्था अर्थात् भावना रखनी आवश्यक है।

इस प्रकार उक्त श्लोक सांगोपांग पूजन-पद्धति के निर्वाह का निर्देश किया गया है और साथ ही यह भी उपदेश है कि साधक अपने साधकत्व से उठ कर शिवामय होजाय। उसके रोम-रोम में भगवती शिवा का निवास हो, जिससे उसका प्रत्येक कला-कलाप अपने लिए न होकर केवल भगवती के लिये ही हो। वह यह भूल जाय कि स्वयं भी कुछ है, वरन् बोलते, चलते, खाते-

पीते, सोते-बैठते इत्यादि प्रत्येक दशा में जो कुछ कर्म करे, वह सब देवी के उद्देश्य से ही ~~करना चाहिए~~।

सुधामप्यास्वाद्य प्रतिभयजरामृत्युहरणीं
विपद्यन्ते विश्वे विधिशतमखाद्या दिविषदः ।
करालं यत्क्ष्वेलं कबलितवतः कालकलना
न शम्भोस्तन्मूलं तव जननि ताटंकमहिमा ॥२८॥

टीका—ब्रह्मा और शतमखादि (इन्द्रादि देवता) जरामरण के भय को हरने वाले अमृत का पान करके भी इस संसार में काल-कलवित होते हैं। परन्तु कराल विष को पीने वाले शंभु पर काल-कलना का प्रभाव नहीं होता। अतएव हे माता! यह महिमा तुम्हारे ताटंक (कर्णाभूषण) की ही है॥२८॥

व्याख्या—इस श्लोक में स्त्रियों के पतिव्रत धर्म की ओर संकेत है। उनके आभूषण अखण्ड सौभाग्य के सूचक होते हैं, क्योंकि पतिहीना स्त्रियों के लिये आभूषण-धारण निन्दनीय माना जाता है। इसी अभिप्राय से शम्भु का हलाहल-विषपान कर लेने पर भी जीवित रहा आना 'तव जननि ताटंकमहिमा' कहा है। अर्थात् भगवती के आभूषण की महिमा से ही उनके पति द्वारा विषपान कर लेना बताया है। इसमें भगवती के अखण्ड सौभाग्य का ही संकेत है और पतिव्रत ही उस अखण्ड सौभाग्य की रक्षा करता है। इसलिए पतिव्रत के माहात्म्य की विषदता स्वीकार की जाती है।

उसी सौभाग्य के प्रभाव से शिवजी विष-पान करने पर भी नहीं मरे, जबकि ब्रह्मादि सभी देवता अमृत-पान करके भी मृत्यु

को प्राप्त होजाते हैं। उसका कारण यह है कि दृश्यमान जगत्-प्रपंच नाशवान् है। जब यह प्रलयकाल में लय को प्राप्त होजाता है तब एक मात्र शिव के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहता। क्योंकि शिवरूप ब्रह्म ही स्थिति काल में नाना रूपों में दिखाई देता है। इसीलिए कहा है—

ब्रह्मैव सर्वं चिन्मात्रं ब्रह्ममात्रं जगद्त्रयम्।
आनन्दं परमानन्दमन्यत्किंचिन्न किंचन॥

—तेजो० उ. ४२

अर्थात्—ब्रह्म ही सर्वत्र चैतन्य है, त्रिलोकी भी केवल ब्रह्म ही है वही आनन्द और परमानन्द है, अन्य कहीं कुछ भी नहीं है, कुछ नहीं है।

किरीटं वैरिंच्यं परिहर पुरः कैटभभिदः
कठोरेकोटीरे स्खलसि जहिजम्भारिमुकुटम्।
प्रणम्रे ष्वेतेषु प्रसभमुपयातस्य भवनं
भवस्याभ्युत्थाने तव परिजनोक्तिर्विजयते ॥२९॥

टीका—अपने भवन में शिव को आते हुए देख कर तुम्हारी परिचारिकाएँ उनके स्वागतार्थ खड़ी होकर 'जय हो' पुकारती हुई कहती हैं कि सामने खड़े ब्रह्मा के मुकुट से बचिये, कैटभ के सहारक विष्णु के कठोर मुकुट से टक्कर लग जायगी, जम्भारि (इन्द्र) के मुकुट से भी बचें ॥२९॥

व्याख्या—श्लोक का अभिप्राय है कि देवी की परिचर्या में ब्रह्मा, हरि, इन्द्र आदि देवता खड़े हैं, तभी शिव सहसा आजाते हैं तो परिचारिकाएँ उन्हें उन देवताओं से बच कर चलने का निवेदन करती हैं। उसका कारण भी परिचारिकाओं का श्रद्धा-

वश उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करना ही है। अन्यथा शिवजी क्या ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र की उपस्थिति से अनभिज्ञ हैं अथवा उन्हें उनके मुकुट आदि का पता नहीं है ?

'कैटभभिदः' पद में एक अन्तर्कथा निहित है। विष्णु के मैल से मधु और कैटभ नामक दो असुर उत्पन्न होकर ब्रह्मा का भक्षण करने के लिए दौड़े तो उन्हें देख कर ब्रह्मा बड़े भयभीत हुए। उन्होंने देखा कि विष्णु तो शेषशय्या पर सोरहे हैं, अब क्या करें ? तभी उन्होंने भगवती से अपनी रक्षा का निवेदन किया, जिससे प्रसन्न हुई भगवती ने विष्णु को जगा दिया और तब विष्णु ने राक्षसों को मार कर ब्रह्मा को भयमुक्त किया। इस अर्न्तकथा में विष्णु अध्यात्म भाव, शेष विराट् की कुण्ड-लिनीयुक्त आधारशक्ति, विष्णु को प्रसुप्त करने वाली निद्रा बीज शक्ति, नाभि से उत्पन्न कमल रजोगुणात्मक विमर्ष शक्ति और ब्रह्मा प्रणव रूप तथा विराट् का प्राण और बुद्धि है।

प्रणव पहले ध्वन्यात्मक और फिर शब्दात्मक होकर वेदरूप में व्यक्त होता है। वेद के शब्दों से वाच्यार्थ स्वरूपा सृष्टि बढ़ती है। शब्द से श्रोत्र का सम्बन्ध है तथा श्रोत्र से आकाश और आकाश से स्थूल शब्द सम्बन्धित हैं। विराट् के कानों सेआकाश का उत्पन्न होना कहा है, उन कानों में जो मैल है वह ब्रह्मा को भक्षण करने के लिए तत्पर नाद का आवरण ही है, जो महा-सुषुप्तिस्वरूपा बीज शक्ति के प्रभाव से स्थूल होगया, जिससे मधु-कैटभ उत्पन्न हुये।

इस श्लोक में 'कैटभभिद्' पद का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ कीट-सम्बन्धी अथवा कीट के समान भी बनता है। कान का मैल भी कीटवत् हो सकता है और मैल तो स्वच्छता पर

आवरण होता ही है, इसलिए स्वच्छता अर्थात् ज्ञान पर जो मैल अथवा अज्ञान रूप आवरण है, उसके नष्ट होते ही ज्ञान प्रकाश होजाना चाहिए। इस प्रकार कैटभभिद् का अर्थ हुआ अज्ञान के आवरण को नष्ट करने वाले और उस आवरण के हटते ही शिव-रूप ब्रह्म का प्रत्यक्ष हो सकता है।

विष्णु ने मधु-कैटभ का शिर अपने चक्र से काट डाला। उस समय ब्रह्मा की रक्षा के लिये भगवती ने जो कालरूप धारण किया था, इसी से उसका नाम काली पड़ा। दस महाविद्याएँ जो आद्याशक्ति एवं महाविद्या कहलाती हैं, उनमें सबसे पहला नाम काली का ही आता है।

काली, दुर्गा आदि नामों में कोई अन्तर नहीं, वे सब भगवती के ही स्वरूप हैं। दुर्गा देवताओं की संगठन शक्ति की प्रतीक हैं। उनकी प्रेरणा होती है कि आसुरी तत्वों के सिर उठाते ही सब देवतत्वों को संगठित होजाना चाहिए। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार सभी देवताओं ने दुर्गा को अपने-अपने आयुधों से सुसज्जित कर दिया। शिवजी ने अपने त्रिशूल से त्रिशूल उत्पन्न करके उन्हें दिया विष्णु ने चक्र से चक्र उत्पन्न करके दुर्गा को प्रदान किया। इन्द्र ने वज्र से वज्र उत्पन्न किया, उसके साथ ही ऐरावत हाथी का घन्टा भी खोल कर उन्हें दे दिया। इस प्रकार सभी देवता उन्हें आयुधों से सुसज्जित रखना चाहते थे, इसलिये ग्रन्थकार का ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्रादि देवताओं का भगवती के सामने खड़ा रहना कथन अनुपयुक्त नहीं है। क्योंकि 'ब्रह्मादिभिः स्तूयमानां सिद्धगन्धर्व सेविताम्' कह कर स्पष्ट रूप से ब्रह्मादि देवताओं द्वारा स्तुति की जाती और सिद्ध-गंधर्वादि द्वारा सेवित होती हुई कही गई हैं।

कुण्डलिनी का शिव से मिलन

उक्त श्लोक का अभिप्राय कुण्डलिनी शक्ति का शिव से मिलन प्रदर्शित करना भी हो सकता है। क्योंकि कुण्डलिनी जाग कर शिव-मिलन की ओर अग्रसर होती है तब रजोगुण से उत्पन्न ब्रह्मग्रन्थि को भेद कर सुषुम्ना में विद्यु‌त-रेखा के समान चढ़ती हुई हृदय-स्थित विष्णु ग्रन्थि को शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है। फिर और भी ऊपर जाकर रुद्र ग्रन्थि को प्राप्त होती है। वहाँ से भौंहों के मध्य स्थान का वेध करती हुई चन्द्रस्थान में पहुँचती है, जहाँ सोलह पंखुरियों का अनाहत चक्र है। इनमें से मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्र दोनों ही को अन्धकारमय कहा जाता है, और टक्कर अन्धकार में ही हो सकती है। इसीलिए ग्रन्थकार ने साधक को सचेत किया है कि कुण्डलिनी जागरण के पश्चात् सावधानी से कार्य कर ले, क्योंकि उस स्थान को त्याग कर स्वयं ही सुषुम्ना में चल पड़ता है। यदि साधक सावधान है तो अपने प्रयत्न में सफल हो जाता है, तब उसका शरीर सब रोगों से मुक्त, सुपुष्ट और अत्यन्त तेजोमय होजाता है, परन्तु असावधान साधक असफल होकर अनेक प्रकार के दुःख-क्लेशों को भोगा करते हैं। इसीलिए ग्रन्थकार का अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि योगाभ्यास के समय साधक पूर्ण सावधानी से कार्य ले। जिससे कि योग-मार्ग में आने वाली बाधाओं के उल्लंघन में समर्थ हो सके।

इस श्लोक का एक अभिप्राय यह भी है कि साधक के चित्र की चंचलता उसे ठीक मार्ग पर नहीं चलने देती वह कभी सोचता है कि मैं विष्णु की उपासना करूँ, कभी सोचता है कि इन्द्र की करूँ तो कभी ब्रह्मा के पूजन का विचार करने लगता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह साधक भ्रान्ति में पड़ा

रह कर वास्तविक तथ्य को समझ नहीं पाता। परन्तु यथार्थ यही है कि ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्रादि देवताओं की उपासना से मुमुक्षु की आकांक्षा पूर्ति नहीं हो पाती और वह सांसारिक बन्धन में पड़ा हुआ जन्म-मरण के चक्र में भ्रमता रहता है।

इसलिए अन्य देवताओं की उपासना त्याग कर चित्त को एक मात्र शिवा के ध्यान में ही लगा दे तो उसे अवश्य ही शिव-साक्षात्कार में सफलता प्राप्त हो सकती है। इसमें ग्रन्थकार का यही अभिप्राय स्पष्ट है।

स्वदेहोद्भूताभिर्घृणिभिरणिमाऽऽद्याभिरभितो
निषेव्ये नित्ये त्वामहमिति सदा भावयति यः।
किमाश्चर्यं तस्य त्रिनयनसमृद्धिं तृणयतो
महासंवर्ताग्निर्विरचयति नीराजनविधिम् ॥३०॥

टीका—हे निषेव्ये (सेवा के योग्य), हे नित्ये ! अपने शरीर से निकलने वाली अणिमादि सिद्धि स्वरूपा रश्मियों से घिरा हुआ तुम्हारा जो भक्त सदा 'त्वांअहम्' अर्थात् 'जो तुम हो वह मैं हूँ' ऐसी भावना रखता है, यदि त्रिनेत्र की समृद्धि को भी तृण के समान तुच्छ समझने वाले उस उपासक की संवर्ताग्नि (प्रलयाग्नि) भी आरती उतारे तो क्या आश्चर्य है ? ॥३०॥

व्याख्या—भगवती नित्य हैं, अणिमादि सभी सिद्धियाँ उनकी किरणरूप हैं। भगवती में और अपने में अभेद की भावना रखने वाले के लिए शिव की समृद्धि भी तिनके के समान तुच्छ लगती है। रात्रिसूक्त में ब्रह्माजी देवी की स्तुति करते हुए कहते हैं—

त्वं स्वाहा त्वं सुधा त्वं हि स्वरात्मिका।
स्वधात्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता।

अर्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः ।
त्वमेव सन्ध्या सावित्री त्वं देवी जननी परा ॥

अर्थात्—हे नित्ये ! हे अक्षरे ! तुम स्वाहा, तुम सुधा, तुम स्वरात्मिका और तुम ही स्वधा हो । तुम ही तीन मात्रा और अर्द्धमात्रा रूप में स्थित हो। तुम ही सन्ध्या, सावित्री, देवी और परम जननी हो ।

'निषेव्ये' अर्थात् भगवती सेवा के योग्य हैं ,क्योंकि शरणागत को शरण देने वाली और कल्याण करने वाली हैं, इसीलिए देव्यथर्वशीर्षम् के अनुसार—

पापापहारिणीं देवीं भुक्तिमुक्ति प्रदायिनीम् ।
अनन्तां विजयां शुद्धां शरण्यां शिवदां शिवाम्॥
नमामि त्वां महादेवीं महाभयविनाशिनीम् ।
महादुर्ग प्रशमनीं महाकारुण्यरूपिणीम् ॥

अर्थात्—भगवती पापों को नष्ट करने वाली, इच्छित भोग और मोक्ष के देने वाली, अन्त-रहित, शत्रुओं या दुष्टों को जीतने वाली, शुद्ध, शरणागत को शरण देने वाली, कल्याणदात्री और शिवा रूपिणी हैं । हे महादेवी ! तुम महाभय के नष्ट करने वाली, महादुर्ग (महाचक्रों) का शमन करनेवाली और महान् करुणा की मूर्ति हो, तुम्हें नमस्कार है ।

'त्रिनयन समृद्धि' से तात्पर्य उन सिद्धियों से है जो योगी के मोक्ष मार्ग में बाधा स्वरूप हो जाती हैं, उनमें से कोई सिद्धि चाहे शिव के द्वारा हो क्यों न प्राप्त हुई हो । मुमुक्षु साधक को उसे भी अस्वीकार कर देना चाहिए । क्योंकि सिद्धि किसी के द्वारा भी प्रदत्त क्यों न हो, उसका उपयोग मोक्ष की प्राप्ति में

कदापि नहीं हो सकता। वह तो सांसारिक भोगों की प्राप्ति में ही सहायक हो सकती हैं।

यह पहले बताया जा चुका है कि योगी की साधना में अनेक विघ्न आते हैं। 'ते समाधावुपसर्गाव्युत्थाने सिद्धियाः' (योग दर्शन ३।३७) अर्थात् 'वे सिद्धियां समाधि की सिद्धि में विघ्न हैं, वह व्युत्थान अवस्था में सिद्धि रूप हैं।' इन सिद्धियों से हर्ष गौरव की प्राप्ति होने से साधन में शैथिल्य तो संभव है ही, साथ ही मोक्ष-प्राप्ति भी नहीं हो पाती। जैसे किसी दरिद्र को अल्प धन ही सन्तुष्ट कर देता है, वैसे ही सिद्धि के प्रलोभन में पड़ा हुआ साधक मोक्ष को भूल कर भोग की ओर दौड़ता है। इसीलिए परमानन्द रूप मोक्ष के इच्छुक योगी इन सिद्धियों का त्याग कर देते हैं।

'तद्वैराग्यादपि दोष बीजक्षये कैवल्यम्' (यो० द० ३।५०) अर्थात् 'इन सिद्धियों से वैराग्य द्वारा मन हटा लेने पर ही दोषों का बीज नष्ट होकर कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति हो सकती है।

'त्रिनयन समृद्धि' को तृणवत् समझने का एक अभिप्राय यह भी है कि मनुष्य के दोनों व्यक्त नेत्र तो अज्ञानावरण के कारण देहाभिमान से संबंधित होते हैं, परन्तु जब उसका तीसरा ज्ञान नेत्र खुलजाता है तब वह किसी अन्य समृद्धि को तुच्छ मान कर 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अनुभव करने लगता है।

उपनिषदों में अनेक स्थलों में यह प्रसंग मिलता है कि योगी की साधना को भंग करने के लिए देवगण अनेक प्रकार के प्रलोभन दिया करते हैं। पुराणों के अनुसार घोर तप करने वालोंको 'वर' का प्रलोभन देने के उद्देश्य से ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र

आदि देवता एक-एक कर प्रकट होते और साधक से वर माँगने को कहते हैं, परन्तु मुमुक्षु साधक उन प्रलोभनों में नहीं पड़ते। वे कभी कोई वर नहीं माँगते और जब अधिक जोर दिया जाता है तब मोक्ष की ही इच्छा प्रकट करते हैं।

श्लोक का 'महासंवर्ताग्नि' इत्यादि चतुर्थ पद यह प्रकट करता है कि जो योगी साधक 'अहं ब्रह्मास्मि' के रहस्य को जान कर शरीर में अनात्म भाव रखता और अपने को ब्रह्म से अभिन्न मानता है, वह परमानन्द में इतना लीन होजाता है कि उसे महाप्रलयकाल में संसार को नष्ट करने वाले प्रलयाग्नि से भी किसी प्रकार का क्षोभ नहीं होता है, वरन् उस मुक्त पुरुष के लिए वह ऐसा बन जाता है. जैसे कि उसकी आरती उतार रहा हो।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि मुक्त पुरुष पर प्रलयाग्नि का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इससे यही सिद्ध होता है कि भगवती की आराधना के फल स्वरूप जो ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य होता है, वही परमानन्द है और उस आत्मानन्द में जगत् का कोई भी विकार क्षुब्ध करने में समर्थ नहीं हो सकता। अनन्य भाव साधक को प्रलय हो या स्थिति, उसे किसी भी अवस्था में दुःख या सुख नहीं होता। वह तो सभी स्थितियों को समान मानता हुआ अपने में और ब्रह्म में कोई भेद नहीं देखा करता।

श्लोक में 'त्वामहमिति' कह कर आत्मा-परमात्मा के ऐक्य के प्रतिपादनार्थ जो संकेत किया गया है, उसकी सिद्धि बह्वृचोपनिषत् के निम्न कथन से भी होती है—

'प्रज्ञानं ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा भाष्यते । तत्वमसीत्येव संभाष्यते । अयमात्मा ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा ब्रह्मैवाहमस्मीति वा । योऽहमस्मीति, वा सोऽहमस्मीति वा या भाष्यते सैषा षौडशी श्रीविद्या ।' इत्यादि अर्थात् 'प्रज्ञान ही ब्रह्म है अथवा मैं ही ब्रह्म हूँ आदि वाक्यों से उसी परमतत्व को व्यक्त किया जाता है । जब तक 'वह-तू-मैं' कहते हैं तो हम उसी को प्रकट करते हैं । जो वह है, वही मैं हूँ, वह भी मैं हूँ, ब्रह्म भी मैं ही हूँ, आत्मा ब्रह्म है आदि वाक्यों के द्वारा उसी षोडशी श्रीविद्या का विवेचन होता हैं ।

चतुःषष्टयातन्त्रैः सकलमभिसंधाय भुवनं
स्थितस्तत्तत्सिद्धि प्रसवपरतन्त्रैः पशुपतिः ।
पुनस्त्वन्निर्बन्धादखिलपुरुषार्थैकघटना-
स्वतंत्रं तेतन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम् ॥३१॥

टीका—पशुपति शिव ने सम्पूर्ण भुवन को अपनी-अपनी सिद्धियों को पृथक्-पृथक् विषय के रूप में देने वाले चौंसठ तन्त्रों से परिपूर्ण किया और फिर तुम्हारे संकेत से तुम्हारे सर्व पुरुषार्थ एवं सिद्धियों के दाता स्वतन्त्र तन्त्र को भूतल पर उतार दिया ॥३१॥

व्याख्या—शिव ने भगवती को जिन चौंसठ तन्त्रों से सम्पन्न करके धरती पर उतारा । वे चौंसठ तन्त्र यह हैं—(१) सिद्ध भैरव तन्त्र, (२) काल भैरव, (३) कालाग्नि भैरव, (४) कंकाल भैरव, (५) बटुक भैरव, (६) महाभैरव, (७) योगिनी भैरव, और (८) शक्ति भैरव । यह आठों कापालिक तन्त्र माने गए हैं, इनमें अनेक सिद्धियों का होना कहा जाता है । (९) 'शंबर'

संज्ञक मोहन तन्त्र, (१०) तत्व शम्बर और (११) योगिनी जाल शम्बर, यह तीनों शाम्बरी तन्त्र हैं। (१२) ब्राह्मी, (१३) शाम्भवी, (१४) वैष्णवी, (१५) कौमारी, (१६) माहेन्द्री, (१७) वाराही, (१८) शिवदूती, और (१९) चामुण्डा, यह तन्त्र अपनी-अपनी शक्तियों की साधनाओं से सम्पन्न हैं, यह बहुरूपाष्टक कहे जाते हैं। इनसे आगे कामसिद्धियामल तन्त्र कहे जाते हैं, जो कि आठ हैं—(२०) ब्रह्मयामल, (२१) विष्णुयामल, (२२) रुद्रयामल, (२३) लक्ष्मीयामल, (२४) उमायामल, (२५) गणेशयामल, (२६) स्कन्दयामल, और (२७) जयद्रथयामल। अब मारण-उच्चाटन प्रयोगवाली तन्त्र विद्याओं को कहते हैं—(२८) महासम्मोहन, (२९) मालिनी, (३०) चन्द्रज्ञान, (३१) वामजुष्ट, (३२) वातुल, (३३) वातुलोत्तर, (३४) महादेव, (३५) कामिक, (३६) गुह्य तन्त्र, (३७) हृद्भेद तन्त्र, (३८) मतोत्तर तन्त्र, (३९) वीनाख्य (यक्षिणी) तन्त्र, (४०) तन्त्रभेद, (४१) कलासार तन्त्र, (४२) कलावाद, (४३) कुण्डिका, (४४) त्रोतलतन्त्र, (४५) त्रोतलोत्तर तन्त्र, (४६) कुलसार, (४७) कुलोड्डीश, (४८) कुलचूडामणि, (४९) भूतोड्डामर तन्त्र, (५०) रूपभेद तन्त्र, और (५१) पंचामृत तन्त्र। आगे के आम्नायादि आठ तन्त्र क्षपणकों के हैं—(५२) पूर्व आम्नाय, (५३) पश्चिम आम्नाय, (५४) उत्तर आम्नाय, (५५) दक्षिण आम्नाय, (५६) निरुत्तर आम्नाय, (५७) विमल आम्नाय, (५८) विमलोत्तर आम्नाय, और (५९) देवीमत। इनके अतिरिक्त पाँच दिगम्बर तन्त्र हैं—(६०) मोदिनी ईशा, (६१) अरुणेश, (६२) विकुण्ठेश्वर, (६३) सर्वज्ञानोत्तर, और (६४) महाकाली।

उक्त चौंसठ तन्त्रों के अतिरिक्त भगवती का अपना स्वतन्त्र तन्त्र भी है, जिसे श्रीविद्या तन्त्र कहा जाता है। यह तन्त्र परम सौभाग्य का देने वाला है। भगवती के अनुरोध पर ही शिव

ने समाचार का जो साधन बताया वह उक्त ६४ तन्त्रों से भिन्न है। इस प्रकार उन ६४ तन्त्रों की शक्ति से सम्पन्न हुई भगवती अपने स्वतन्त्र तन्त्र से विभूषित होकर विश्व की सर्वोपरि सत्ता बन गई।

मार्कण्डेय पुराण में दुर्गा के आविर्भाव विषयक कथा भी ध्यान देने योग्य है, जो इस प्रकार है—

त्रिदेवों के मुखों से एक विस्तृत तेज प्रकट हुआ, फिर इन्द्रादि देवताओं के मुखों से भी जो तेज निकला, वह सब एकत्र होकर सम्पूर्ण दिशाओं में फैलकर पर्वत के समान जलाने लगा। तत्पश्चात् अपनी आभा से त्रिलोकी को प्रकाशित करने वाला तेजपुंज स्त्रीरूप में परिवर्तित होने लगा, उस समय शिव के मुख से निकले हुए तेज से उस स्त्री का मुख और केश तथा विष्णु के तेज से दो भुजाएँ बन गईं। चन्द्रमा के तेज से दोनों स्तन बने, इन्द्र के तेज से मध्य भाग, वरुण के तेज से जंघा और ऊरु, पृथिवी के तेज से नितम्ब, ब्रह्मा के तेज से चरण, सूर्य के तेज से चरणों की अँगुलियाँ, वसुओं के तेज से हाथों की अँगुलियाँ, कुबेर के तेज से नासिका, प्रजापति के तेज से दन्तावलि अग्नि के तेज से तीन नेत्र, दोनों सन्ध्याओं के तेज से भ्रकुटि, वायु के तेज से दोनों श्रोत्र तथा विश्वकर्मा आदि अन्यान्य देवताओं के तेज से उसके सभी अंग-प्रत्यंग पूर्ण होगए। इस प्रकार देवी के उत्पन्न होने पर सब देवताओं ने उन्हें अपने-अपने आयुध दिये। शिव ने अपने त्रिशूल से त्रिशूल और विष्णु ने अपने चक्र से चक्र उत्पन्न करके दिया। वरुण ने शंख, हुताशन ने अपनी शक्ति और वायु ने धनुष-बाण प्रदान किये। इन्द्र ने अपने वज्र से वज्र उत्पन्न करके और ऐरावत हाथी का घंटा खोलकर दे दिया। इसके पश्चात् अन्यान्य देवताओं ने भी उन्हें सब प्रकार

के युद्धास्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित करके महाशक्ति के रूप में अवतरित किया। इस प्रकार भगवती के अवतरण का उद्देश्य जहाँ एक ओर आसुरी शक्तियों का दमन रहा, वहाँ दूसरी ओर अपने साधकों को भोग और मोक्ष प्रदान करना भी रहा। नारद पाञ्चरात्र में कहा है—

यस्या विज्ञानमात्रेण पराणां परमात्मनः ।
मुहूर्त्तादेवस्य प्राप्तिर्भवति नान्यथा ॥
एकेयं प्रेमसर्वस्व स्वभावा श्री कुलेश्वरः ।
अस्या सुलभो ज्ञेय आदिदेवोऽखिलेश्वरः ॥
अस्या आवारिका शक्तिर्महामायाऽखिलेश्वरी ।
यया मुग्ध जगत्सर्वं सर्वे देहाभिमानिनः ॥

अर्थात्—इस भगवती के ज्ञान मात्र से परमात्मा की उपलब्धि होती है। यह एक ही प्रेमसर्वस्व के स्वभाव से युक्त कुलेश्वरी है। इसके माध्यम से आदि देव अखिलेश्वर की प्राप्ति सुलभ होती है। महामाया इसकी आवरिका शक्ति है। इसी ने अपनी माया में सम्पूर्ण जगत् और देहाभिमानियों को मुग्ध कर रखा है।

इससे सिद्ध होता है कि शिव ने देवी का संकेत प्राप्त करके ही उनके स्वतन्त्र तन्त्र का पृथिवी पर आविर्भाव किया और वही तन्त्र इस दृश्य प्रपंच के संचालन से अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। मार्कण्डेय पुराण में दुर्गा विषयक आविर्भाव का प्रसंग भी इसी की पुष्टि करता है।

शिव: शक्ति: काम: क्षितिरथ रवि: शीतकिरण:
स्मरो हंस: शक्रस्तदनु च परामारहरय: ।
अमी हृल्लेखाभिस्तिसृभिरवसानेषु घटिता
भजन्ते वर्णास्ते तव जननि नामावयवताम् ॥३२॥

टीका—हे जननि ! शिव, शक्ति, काम, क्षिति (पृथिवी), फिर सूर्य, चन्द्र, स्मर (काम), हंस, शक्र (इन्द्र), तत्पश्चात् पराशक्ति, काम और विष्णु इन तीनों के अन्त में तीन हृल्लेखाओं का योग करके उपासक गण तुम्हारे नाम के अवयव रूप अक्षरों का भजन करते हैं ॥३२॥

व्याख्या—श्लोक में हादि विद्या और अगले श्लोक में कादि मूलविद्या का उपदेश है। त्रिपुरोपनिषत् (श्लोक ८ और ९) में इनका विवरण इस प्रकार मिलता है—

कामो योनि:कामकलावज्रपाणिर्गुहाहसामातरिश्वाऽभ्रमिन्द्र: ।
पुनर्गुहा सकला मायया च पुरूच्येषा विश्वमाताऽऽदिविद्या ॥८॥
षष्ठं सप्तममथ वह्निसारथिमस्या मूलत्रिकमादेशयन्त: ।
कथ्य कविं कल्पकं काममीशं तुष्टुवांसो अमृतत्वं भजन्ते ॥९॥

अर्थात्—काम (ककार),योनि (एकार),कामकला (ईकार,) वज्रपाणि (लकार), गुहा (ह्रींकार),हसा (हकार और सकार), मातरिश्वा (ककार), अभ्र (हकार), इन्द्र (लकार), पुनर्गुहा (ह्रींकार), सकला (सकार, ककार, लकार,) और मायया (ह्रींकार) यह पुरुरुची (प्रकाशमान) विश्वमाता और विशिष्ट रूप, यह कादि मूल विद्या है। (इसकी आत्मा ओंकार है) हादि विद्या उक्त विद्या का छठा अक्षर 'ह' है वह शिव बीज, सातवाँ 'स' शक्ति बीज और वह्नि सारथि अर्थात् 'क' कामेश बीज एवं शिवसम्पुटित शक्ति बीज है। इसी प्रकार इस आदि विद्या का 'ह स क' यह तीन मूलाक्षर वाणी के पांसु रूप में जप करते हुए

शब्द स्पर्शहीन कालदर्शी सर्वज्ञ को अपने अतिरिक्त कुछ नहीं है, ऐसा जानता हुआ व्यष्टि-समष्टि रूप को प्रपंच कल्पक अथवा अपने अतिरिक्त जीव, शिव, तत्कल्पनीय व्यष्टि-समष्टि प्रपंच समूह नहीं है, ऐसा जानते हुए कामेश्वर ईश्वर को तुष्ट करता हुआ योगी अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।

भगवती अपने परिवार की १५ आवरण देवियों द्वारा सेवित हैं, उनके नाम हैं—मदन्तिका, मानिनी, मंगला, सुभगा, सुन्दरी, सिद्धिमत्ता, लज्जा, मति तुष्टि, इष्टा, पुष्टा, लक्ष्मी, उमा, ललिता और लालपन्ती। इन देवियों द्वारा सेवा की जाती हुई देवी 'मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं, मैं ही सम्पूर्ण विश्व प्रपंच हूँ, इस प्रकार अपने रूप का अनुसन्धान करती हुई चित्शक्ति शिवा शिव के साथ अपनी पीठ में विराजमान हैं। ऐसा जानने वाले योगी को ही उनके परमधाम की प्राप्ति हो सकती है। वे निष्काम कर्मयोगी जीवन पर्यन्त श्रीचक्र को तृप्त करते हुए 'नाकस्य पृष्ठे महतो वसन्ति परधाम त्रैपुरं चाविशन्ति' अर्थात् 'स्वर्गपीठ पर (श्रीपुर में) ज्ञान का अभ्यास करते हुए प्रलयकाल तक (या मरणपर्यन्त) रहते हैं और फिर त्रिपुर रूप परमधाम में प्रवेश करके कृतकृत्य हो जाते हैं।

ऊपर कही गई पन्द्रह शक्तियाँ भगवती की अवयव स्वरूपा ही हैं। इसीलिए त्रिपुरोपनिषत् में 'इमां विज्ञाय सुधया मदन्ती परिसृता तर्पयन्तः स्वपीठम्' अर्थात् इन्हें जानकर अमृत द्वारा मदन्ती को उसकी पीठ (श्रीचक्र) में तृप्त करना कहा गया है। साधक को मूलविद्या का ज्ञान प्राप्त करके भगवती की सांगोपांग साधना करनी चाहिए।

इस श्लोक में जिस मन्त्र की ओर संकेत है, वह हादि विद्या (लोपामुद्रा) का पंचदशाक्षर मन्त्र है। इसे पंचदशी भी कहते हैं। उन पन्द्रह अक्षरों में गुरुमुख से प्राप्त सोलहवां अक्षर जोड़ने पर उस मंत्र को षोडशी कहा जाता है। इसीलिए बह्वृचोपनिषत् में कहा है—

'सैषा षोडशी श्रीविद्या पंचदशाक्षरी श्रीमहात्रिपुर सुन्दरी' अर्थात् 'वही षोडशी श्रीविद्या है, वही पंचदशाक्षरी महात्रिपुर सुन्दरी है।'

मंत्र के तीन कूट हैं–(१) वाग्भव, (२) कामकला, (३) शक्ति-कूट। प्रथम कूट देवी का मुख है, दूसरा सूर्य से सम्बन्धित कूट कण्ठ से नीचे कटिपर्यन्त भाग है, इन दोनों कूटों के मध्य हृल्लेखा रुद्रग्रन्थि है। तीसरा चन्द्रमा से सम्बन्धित कूट कटि से नीचे का अंग है, जो कि सृजनात्मक है। इन दूसरे और तीसरे कूटों के मध्य की हृल्लेखा विष्णु ग्रन्थि कहलाती है। चतुर्थ पाद एकाक्षर लक्ष्मी मंत्र (श्रीं बीज) चन्द्रकला है, इसके और तृतीय कूट के मध्य की हृल्लेखा ब्रह्मग्रन्थि है। इस प्रकार यह मन्त्र ही षोडशी विद्या है। इसमें जो अक्षर हैं, वह भगवती के नाम स्वरूप हैं। इसका जप करने वाला साधक काम्य फल प्राप्त कर लेता है।

'एषाऽऽत्मशक्तिः। एषा विश्वमोहिनी पाशांकुशधनुर्बाणधरा एषा श्रीमहाविद्या' (देव्युपनिषत्) अर्थात् (यह काम, योनि, कामकला इत्यादि जो आदि विद्या है, वही) 'यह आत्म शक्ति है, यही विश्व को मोहित करने वाली पाश, अंकुश, धनुष, बाण धारण करने वाली यही श्री महाविद्या हैं।' इस श्लोक में साधक को भगवती का भजन करने का ही उपदेश निहित है।

स्मरं योनिं लक्ष्मीं त्रितयमिदमादौ तव मनो-
निधायैके नित्ये निरवधिमहाभोगरसिकाः ।
भजंति त्वां चिन्तामणिगुणनिबद्धाक्षवलयाः
शिवाऽग्नौ जुह्वन्तःसुरभिघृतधाराऽऽहुतिशतः॥ ३३

टीका—हे नित्ये ! काम, योनि (त्रिकोण) और लक्ष्मी इन तीनों को तुम्हारे मन्त्र के आदि अक्षरों के स्थान पर रख कर अवधि-रहित महाभोग के रसिक तुम्हारे जो भक्तजन चिन्ता-मणियों की अक्षमाला पर तुम्हारा भजन करते तथा शिवा (त्रिकोण) अग्नि में गो-घृत की सैकड़ों धाराओं की आहुतियों से यजन करते हैं ॥३३॥

व्याख्या—इस श्लोक में सिद्धिदायक कादि मूल विद्या के मंत्र का निर्देश है । त्रिपुरोपनिषत् का अष्टम श्लोक इस विद्या पर पूर्ण प्रकाश डालता है, उसे उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या में बता चुके हैं । इस श्लोक में भगवती के लिए 'नित्ये' कह कर सम्बोधन किया है । जिसका अभिप्राय उनका कभी भी विनाश न होना है । वैसे यथार्थ रूप में तो लक्ष्मी का एकाक्षर बीज मंत्र 'श्रीं' ही नित्य है । क्योंकि उसी के कारण सम्पूर्ण विद्याओं को श्रीविद्या कहलाने का गौरव प्राप्त है ।

इस श्लोक में 'शिवाग्नि' में होम करना कहा है, जिसका तात्पर्य कुण्डलिनी के मुख से है । सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत् (३।१) में 'आधारे ब्रह्मचक्रं' इत्यादि से कहा है कि मूलाधार में स्थित ब्रह्मचक्र योनि के आकार के तीन घेरों का है. वहाँ कर्णिकामूल में सुप्त सर्प के आकार में जो कुण्डलिनी शक्ति स्थित रहती है, जब तक जाग्रत् न हो तब तक 'पावकाकारं ध्यायेत्' अर्थात् उस का ध्यान भभकती हुई ज्वाला के रूप में करना चाहिए, क्योंकि

यह आधार चक्र ही उन भगवती का कामरूप पीठ नामक सर्व कामनाप्रद स्थान है।

'सुरभिघृतधारा' अर्थात् घृत रूप अमृत की आहुतियाँ देने से ग्रन्थकार का तात्पर्य तालुचक्र से निरन्तर बहने वाली अमृत की धारा से है, यथा—'तालुचक्रं तत्रामृतधाराप्रवाहो' (सौ०-ल० उ० ३।६) इस कुण्डलिनी जागरण से शिव-मिलन तक की सम्पूर्ण क्रिया को पहले यथा स्थल बता चुके हैं।

'चिन्तामणिगुणनिबद्धा' कहने से अभिप्राय सत्व, रज, तम तीनों गुणों से समन्वित उसी चित्‌शक्ति से है जो साधक को सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त करती है। भगवतो सोलह कलाओं से युक्त हैं। पंचदशी के पंद्रह अक्षरों से सम्बद्ध चित्शक्ति स्वयं सोलहवीं कला के रूप चिन्मात्र निर्विल्प समाधि में विराजमान रहती हैं।

'निरवधिमहाभोगरसिका' के कथन से ग्रन्थकार का तात्पर्य भोग और मोक्ष दोनों की ही अभिलाषा रखने वाले साधकों से है। क्योंकि भगवती दोनों ही कामनाएँ पूर्ण करने में समर्थ हैं। सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत् (१।६) में लक्ष्मी के नामों का उल्लेख करते हुए उन्हें 'ईश्वरी भुक्तिमुंक्तिर्विभूतिऋ॑द्धिः समृद्धिः कृष्टिः पुष्टिधनदा धनेश्वरी श्रद्धा, भोगिनी भागदा' आदि कहा है, इससे भी यह सिद्ध होता है कि भगवती वांछित भोग प्रदान करती हुई शुद्ध चेता साधक को अन्त में मोक्ष देती हैं। यथा—'स सकल धनधान्यसत्पुत्रकलत्रहयभूगजपशुमहिषीदासीदासयोग ज्ञानवान भवति न स पुनरावर्तत' अर्थात् सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत् का अध्येता सर्वधन, धान्य, स्त्री, पुत्र, हाथी-घोड़े, गाय-भैंस और भृत्यादि रूप ऐश्वर्य से सम्पन्न ज्ञानी होता है तथा अन्त में परम-पद को प्राप्त होकर वहाँ से फिर नहीं लौटता।

शरीरं त्वं शंभोः शशिमिहिरवक्षोरुहयुगं
तवात्मानं मन्ये भगवति भवात्मानमनघम् ।
अतः शेषः शेषीत्ययमुभयसाधारणतया
स्थितः सम्बन्धो वां समरस परानन्दपरयो ॥३४॥

टीका—हे भगवती ! मेरे मत में तुम शम्भु का शरीर हो जिसके वक्षस्थल पर सूर्य-चन्द्र रूपी दो स्तन हैं तथा तुम्हारी आत्मा सम्पूर्ण भव की आत्मा शिव ही हैं । अतएव तुम दोनो में पराशक्ति एवं आनन्द का समान रस के कारण शेष-शेषी के समान सम्बन्ध है ॥३४॥

व्याख्या—शम्भु के स्थूल शरीर रूप में ही शक्ति है, ब्रह्माण्ड विराट् का स्थूल शरीर कहा जाता है और ब्रह्माण्ड ही शक्तिरूप है, इस प्रकार शक्ति शिव से पृथक् नहीं है। क्योंकि शिव के व्यक्त और अव्यक्त दो रूप कहे गए हैं—'व्यक्तं सर्वमुमारूप-मव्यक्तं तु महेश्वर' (रुद्रहृदय० ६) अर्थात् यह जो कुछ भी व्यक्त है वह उमा और अव्यक्त शिव हैं ।

शम्भु को चिदम्बर भी कहते हैं, इसका अर्थ यह हुआ कि चिति शक्ति शिव को वस्त्र रूप में ढके हुए है, वह अव्यक्त शिव के लिये आवरण बनी हुई स्वयं व्यक्त होती है, इसलिये शक्ति को शिव का शरीर कहना कुछ अनुपयुक्त नहीं । शिव को अर्द्ध-नारीश्वर' नाम देने का भी यही उद्देश्य है। क्योंकि एक ही शरीर में आधा भाग पुरुष और आधा भाग स्त्री होना उनकी अभिन्नता का ही सूचक है ।

'शशिमिहिरवक्षोरुहयुगम्' कहने से तात्पर्य यह है कि भग-वती प्राण और अमृत दोनों का वर्षण कर विश्व का पोषण

करती हैं। क्योंकि सूर्य से प्राणशक्ति की और चन्द्रमा से अमृत की प्राप्ति होती है। क्योंकि 'प्राणो वा अन्नम्' (तैत्तरीय) अर्थात् 'प्राण ही अन्न है' और वही सब प्राणियों का जीवन है। प्राण ही मन को चलायमान करता है, इसीलिए शास्त्रकारों ने प्राण को वश में करने का निर्देश किया है। 'चले वाते चलञ्चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्' अर्थात् 'प्राण वायु के चलने से मन चंचल रहता तथा प्राण के निश्चल होने पर मन भी निश्चल हो जाता है। इससे यह सिद्ध है कि शरीरधारियों में प्राण ही जीवन है और भगवती प्राणदात्री होने से जीवनदात्री भी हैं। शास्त्र का कथन है—

> प्राणोऽपि भगवानीशः प्राणो विष्णुः पितामह।
> प्राणेन धार्यते लोकाः सर्वं प्राणमय जगत्॥

अर्थात्—प्राण ही शिव, प्राण ही विष्णु और प्राण ही ब्रह्मा हैं। प्राण ही सब लोकों को धारण किये हुए है। यह सम्पूर्ण जगत् ही प्राणमय है।

चन्द्रमा की चाँदनी निश्चय ही अमृत की वर्षा करती है, उसी से अन्न की पुष्टि और वृद्धि होती है। श्रीमद्‌भागवत के अनुसार कामकामो यजेत्सोममकामः पुरुषं परम्' अर्थात् भोगों की कामना हो तो चन्द्रमा की और कोई कामना न हो तो परम पुरुष परमात्मा की उपासना करनी चाहिए।'

इससे सिद्ध हुआ कि चन्द्रमा से साँसारिक भोगों की प्राप्ति में सहायता मिलती है। एतरेयोपनिषत् ने 'चन्द्रमा मनोभूत्वा हृदयं प्राविशन्' कह कर चन्द्रमा का मन बन कर हृदय में प्रवेश करना कहा है। इससे समझा जाता है कि मन रूप हुआ चन्द्रमा

प्राणरूप सूर्य के साथ मिलकर शरीर को पुष्टि, बल और आयु प्रदान करता है।

अन्तिम पद में शिव और शक्ति को समरस बताना उनके एकत्व और अभिन्न होने का सूचक है। इसलिए साधक को उन दोनों को एक मानकर ही उपासना करनी चाहिए।

मनस्त्वं व्योमस्त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि पूर्णता.
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां नहि परम्।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा
चिदानन्दाकारं शिवयुवति भावेन विभृषे।३५।

टीका—हे शिवयुवति ! तुम्हीं मन हो, तुम्हीं आकाश हो, और तुम्हीं वायुरूप सारथि वाले अग्नि हो। तुम्हीं जल और तुम्हीं भूमि हो, इस प्रकार तुम्हारी परिणति से बाहर कुछ भी तो नहीं है। तुमने स्वयं को ही परिणित करने के लिए चिदानन्दाकार को विराट् शरीर के रूप में व्यक्त कर रखा है ॥३५॥

व्याख्या—इस श्लोक में भगवती को ही मन, आकाश, वायु अग्नि, जल और पृथिवी आदि कहा है, जो कि सत् शक्ति के विकार हैं। इनके कथन से षट्चक्रों से सम्बन्धित तत्वों के अधि देवताओं का संकेत समझना चाहिए। देव्युपनिषत् में देवी स्वयं अपने को 'अहं पंचभूतान्यपचभूतानि' इत्यादि से कहती हैं कि 'मैं ही पंचीकृत और अपंचीकृत महाभूत हूँ, मैं ही सम्पूर्ण जगत् हूँ।'

शिवयुवति का अर्थ शिव की शक्ति अथवा शिव की कला से ही है। क्योंकि 'सा देवी त्रिविधा भवति शक्त्यात्मना इच्छा

शक्तिः क्रियाशक्तिः साक्षाच्छक्तिरिति' अर्थात् 'वह देवी ही शक्ति मयी होकर इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और साक्षात्शक्ति के रूप में तीन प्रकार से प्रकट होती हैं। यह तीन रूप ही जगत् की रचना में कारण स्वरूप हैं। क्योंकि ब्रह्म जब अनेक होने की इच्छा करता है (बहुस्यां प्रजायेय), तब उसकी सत्शक्ति में क्रिया होने लगती है और वही क्रिया जगत् का निर्माण करती है।

श्लोक में भगवती को चिदानन्दाकार कहा है और जब तक वे व्यक्त नहीं होतीं, तब तक सच्चिदानन्द में ही विद्यमान रहती हैं। बहवृचोपनिषत् ने इस विषय में कहा है—

सैवात्मा ततोऽन्यदसत्यमनात्मा। अत एषा ब्रह्मसंवित्ति-र्भावाभावकलाविनिर्मुक्ता चिद्विद्याऽद्वितीया ब्रह्मसंवित्तिः सच्चिदानन्दलहरी महात्रिपुर सुन्दरी बहिरन्तरनुप्रविश्य स्वय-मेकैव विभाति। यदस्ति सन्मात्रम्। यद्भाति चिन्मात्रम्। यत् प्रियमानन्दम्। तदेतत् सर्वाकार महात्रिपुरसुन्दरी। त्वं चाहं च सर्वं विश्वं सर्वदेवता। इतरत् सर्वं महात्रिपुरसुन्दरी। सत्यमेकं ललिताऽऽख्यं वस्तु तदद्वितीयमखंडार्थं परं ब्रह्म॥

अर्थात्—वही देवी आत्मा हैं, उन्हें छोड़कर सब कुछ असत्य और अनात्म है। वही परब्रह्म का बोध कराने वाली विद्याशक्ति हैं। वही सत्, चित्, आनन्दस्वरूपा हैं। वही प्रत्येक वस्तु के बाहर और भीतर व्याप्त होरही हैं। उनके अस्ति, भाति और प्रिय तीनों रूप सत्, चित् और आनन्द के बोधक हैं। इस प्रकार वह महात्रिपुर सुन्दरी ही सब स्थूल वस्तुओं के रूप में अधिष्ठित हैं। मैं और तुम, सब देवता, सम्पूर्ण विश्व और अन्य जो कुछ भी है, वह सब देवी ही हैं। ललिता ही सत्य एवं परमब्रह्म तत्व हैं।

इस प्रकार यह वर्णन इस श्लोक के भाव को पूर्णतया प्रकट करता है। सारांश में सम्पूर्ण व्यक्त संसार भगवती का ही स्थूल शरीर है। विश्व में जो कुछ भी है वह उन्हीं का स्वरूप है।

तवाज्ञाचक्रस्थं तपनशशिकोटिद्युतिधरं
परं शम्भुं वन्दे परिमिलितपार्श्वं परचिता।
यमाराध्यन् भक्त्या रविशशिचीनामविषये
निरातंके लोके निवसति हि भालोक भुवने ॥३६॥

टीका—तुम्हारे आज्ञा चक्र में विद्यमान करोड़ों सूर्यों और चन्द्रमाओं के तेज से सम्पन्न उन परमशिव की वन्दना करता हूँ, जिसका वाम पार्श्व पराचिति से एकीभूत है। उसकी भक्ति सहित आराधना करने वाले पुरुष उस प्रकाशमान लोक में रहते हैं जो सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के विषय से बाहर और सब आतंकों से मुक्त हैं ॥२६॥

व्याख्या—इस श्लोक में षट्चक्रों के अन्तर्गत आज्ञाचक्र का उल्लेख है। इसके विषय में योगराजोपनिषत् में कहा है कि छठा तालुका चक्र है, इसे घण्टिका स्थान भीं कहते हैं, यह दसवें द्वार का मार्ग है,वहाँ 'तत्र शून्ये लयं कृत्वा मुक्तो भवति निश्चितम्' अर्थात् 'शून्य में लय करने वाला साधक निश्चय ही मुक्त हो जाता है।'

आज्ञा चक्र वह चक्र है जिसे भेदकर ऊपर चढ़ने पर शिव-शक्ति का मिलन स्थान है। वहां वह भगवती शिव के वामांग रूप में स्थित रहती है। 'नाकृतं मोक्षमार्गस्यात् प्रसिद्धं पश्चिमं विना' (यो. शि. उ.) अर्थात् 'पश्चिम मार्ग में प्रसिद्ध हुए बिना मोक्षमार्ग का प्रशस्त होना असंभव है।'

पश्चिम मार्ग पीठ में स्थित सुषुम्ना नाड़ी ही है, क्योंकि पूर्व मार्ग में नाभि, हृदय, कण्ठ, नासिका आदि का समावेश है। कुण्डलिनी जागने के पश्चात् इसी मार्ग से षट्चक्रों को भेदती हुई सहस्रार को प्राप्त होती है। हठयोग प्रदीपिका में कहा है—

येन मार्गेण गन्तव्य ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
सुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।।

अर्थात्—जिस मार्ग से सहस्रार में निरामय ब्रह्मस्थान में जाकर उपासक ब्रह्म को प्राप्त होता है वह परमेश्वरी सुप्तावस्था में पड़ी रह कर उसी मार्ग को रोके हुए है।

सहस्रार को 'द्वादशान्तपदं स्थानमिति' (द० मृ० उ०) कह कर परमात्मा की प्राप्ति का स्थान निर्दिष्ट किया है। इस सहस्रार पद्म में शक्ति का शिव से ऐक्य तभी सम्भव है जबकि आज्ञाचक्र का भेदन हो जाय।

'तपनशशिकोटिद्युतिधरम्' कह कर ग्रन्थकार ने सिद्ध किया है कि शिव का तेज करोड़ों सूर्य-चन्द्रमाओं के तेज के समान है। उन्हें अपने तेज में सूर्य, चन्द्र और अग्नि किसी भी तेज की आवश्यकता नहीं है। वे तो स्वयं प्रकाश हैं। 'यः सर्वोपरमे काले सर्वनात्मन्युपसंहृत्य स्वात्मानन्दसुखे मोदते प्रकाशते वा स देवः' (द० मृ० उ०) अर्थात् जो विश्व के संहारकाल में सम्पूर्ण चराचर विश्व को अपने भीतर लीन करके अपने ही आत्मानन्द के सुख में प्रसन्न रहते और स्वयं अपने ही प्रकाश से प्रकाशित रहते हैं, वही देव हैं।'

और भगवती के उपासकों का उस लोक में निवास कहना जहाँ न किसी प्रकार का भय है, न आतंक और जहाँ सूर्य, चन्द्र

था अग्नि के प्रकाश की भी अपेक्षा नहीं, इसी का सूचक है कि ब्रह्म के स्थान में अन्धकार नहीं, वहाँ तो ज्ञान का प्रकाश स्वयं फैला हुआ है साधक अपनी साधना के प्रभाव से उस लोक को प्राप्त होकर शक्ति सम्पन्न उसी ब्रह्म में लीन होजाता है।

विशुद्धौ ते शुद्धस्फटिकविशदं व्योमजनकं
शिवं सेवे देवीमपि शिवसमान व्यवसिताम्।
ययोःकान्त्यायान्त्याशशिकिरणसारूप्यसरणिं
विधूतान्तर्ध्वान्ता विलसति चकोरीव जगती ॥३७॥

टीका—मैं तुम्हारे विशुद्ध चक्र में आकाशतत्व के उत्पन्नकर्त्ता शुद्ध स्फटिक के समान वर्ण वाले उन शिव की और शिव के ही समान व्यवसित उन भगवती की सेवा में लगा रहता हूँ जिनकी चन्द्र-किरणों जैसी कान्ति से अन्धकार से मुक्त हुआ जगत् चकोरी के समान आनन्दित होता है ॥३७॥

व्याख्या—इस श्लोक में विशुद्ध चक्र का संकेत है। यह चक्र के ऊपर कण्ठ में स्थित रहता है। इस चक्र के अधिपति सदा-शिव हैं, जिनके अंक में शाकिनी नामक शक्ति का अवस्थित होना कहा है। यह चक्र आकाश तत्व का स्थान माना जाता है। आकाश का एक नाम व्योम भी है और देवी को भी व्योमेश्वरी कहते हैं। शिव आकाश के भी कारण हैं, क्योंकि पंच महाभूतों की उत्पत्ति उन्हीं से है।

तैत्तरीयोपनिषत् में 'आकाश शरीरं ब्रह्म' कह कर आकाश को ब्रह्म का शरीर बताया है। फिर 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' कह कर स्पष्ट किया है कि परम आकाश और हृदय गुफा में निहित सत्य ज्ञान वाले अनन्त ब्रह्म को जो जानता है, वह

ब्रह्म के साथ रह कर सभी कामनाओं को पूर्ण कर लेता है। इस प्रकार ब्रह्म के व्योमेश्वर और देवी के व्योमेश्वरी होने से शिव-शिवा की सम्मिलित उपासना का ही निर्देश समझना चाहिए।

शिवसमान व्यवसिताम्' से तात्पर्य यही है कि शिव में जो सामर्थ्य है, वह भगवती में भी है क्योंकि भगवती शिव के सम्पूर्ण गुणों को ग्रहण करके ही व्यक्त होती है। 'प्रज्ञानं ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा भाष्यते। तत्त्वमसीत्येव संभाष्यते। अयमात्मा ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा ब्रह्मैव वाहमस्मीति वा। योऽहमस्मीति वा सोऽहमस्मीति वा योऽसौ सोऽहमस्मीति वा या भाव्यते सषा षोडशी श्रीविद्या पंचदशाक्षरी श्रीमहात्रिपुर सुन्दरी' इत्यादि (बहवृचोपनिषत्) के अनुसार 'प्रज्ञान ही ब्रह्म है, या मैं ही ब्रह्म हूँ आदि वाक्यों से उसी परम तत्व को व्यक्त किया जाता है। जब 'वह तू मैं' कहते हैं तब हम उसी को प्रकट करते हैं। जो वह है वही मैं हूँ या वह भी मैं हूँ, ब्रह्म भी मैं ही हूँ, आत्मा ब्रह्म है इत्यादि वाक्यों के द्वारा उसी परम विद्या का विवेचन होता है। वही पंचाक्षरी श्रीविद्या महात्रिपुरसुन्दरी हैं।' इससे सिद्ध होता है कि प्रज्ञान ब्रह्म में और भगवती त्रिपुर-सुन्दरी में कोई भेद नहीं है।

'शशिकिरणसारूप्य' में चन्द्रमा की रश्मियों के समान कहने से तात्पर्य भगवती को स्वयंप्रकाश सिद्ध करना है। दुर्गातत्व का विवेचन करते हुए कहा गया है—

यथेदं भ्राम्यते विश्वं योगिभिर्या विचिन्त्यते।
यद्भासा भासते विश्वं सैका दुर्गा जगन्मयी॥

अर्थात्—जिसके द्वारा यह संसार चक्र चलता रहता है और योगिजन जिसका सदा चिन्तन करते रहते हैं तथा जिसके प्रकाश

से यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित हो रहा है, वह जगन्मयी दुर्गा हैं ।

सीतोपनिषत् में 'सोमसूर्याग्निरूपा' कहकर अत्यन्त तेजोमयी सिद्ध किया है, क्योंकि चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि, इन तीनों से बढ़कर किसी अन्य का तेज कदापि नहीं हो सकता । वे भगवती ही सूर्यादि तेजों और सब लोकों को प्रकाशित करती हैं, यथा 'सूर्यादिसकल भुवन प्रकाशिनी' (सी० उ०) इत्यादि । वही चन्द्र-रूपिणी भगवती 'देवानां महस्तोम फलप्रदा' अर्थात् देवताओं को भी महस्तोम यज्ञ का फल प्रदान करती हैं । इसीलिए भगवती की सेवा में साधक का अन्धकाररहित और परम आनन्दित होना अवश्यंभावी है ।

समुन्मीलत्संवित्कमलमकरन्दैकरसिकं
भजे हंसद्वन्द्वं किमपि महतां मानसचरम् ।
यदालापादष्टादशगुणित विद्या परिणति-
र्यदादत्ते दोषाद्गुणमखिलमद्भ्यः पय इव ॥३८॥

टीका—मैं हृदय में विकसित संवित् कमल से निर्गत मकरन्द के रसिक मात्र उस किसी हंस-युगल को भजता हूँ जो महापुरुषों के मन रूपी मानसरोवर में विहाररत है, जिसकी वाणी का परिणाम अष्टदश विद्याओं की परिणति है, जिसके द्वारा दोषों के सभी गुण उसी प्रकार निकाल दिये जाते हैं, जिस प्रकार कि जलयुक्त दुग्ध का सम्पूर्ण दुग्ध हंस द्वारा निकाल लिया जाता है ॥३८॥

व्याख्या—हृदय में विकसित हुए संवित् अर्थात् ज्ञानरूप कमल से निकलने अक्षरों से ब्रह्मविद्या की व्यक्तता है । इसमें

ग्रन्थकार का अभिप्राय अजपा गायत्री भी हो सकता है। हंसोपनिषत् के अनुसार 'सूर्याय सोमाय निरंजनाय निराभासाय तनु सूक्ष्म प्रचोदयात् इति अग्निषोमाभ्यां वौषट्' इस मन्त्र का जप करते हुए हृदयादि अंगों का न्यास करना चाहिए। ऐसा करने के पश्चात् 'हृदयेऽष्टदले हंसमात्मानं ध्यायेत्' अर्थात् 'आठ दल वाले हृदय कमल में हंस-आत्मा का ध्यान करे।'

हंसोपनिषत् में ही हंस रूपी आत्मा का मुख रुद्र और दोनों चरण रुद्राणी कहा है। इस प्रकार शिव और शिवा दोनों का ही एक ही शरीर के अंग होना सिद्ध है। इसीलिए श्लोक में 'हंसद्वन्द्व' अर्थात् 'हंस युगल' पद की कल्पना की गई प्रतीत होती है। ध्यानबिन्दूपनिषत् में भी कथन है—

हृत्पद्मकर्णिकामध्ये स्थिरदीपनिभाकृतिम्।
अंगुष्ठमात्रमचलं ध्यायेदोंकारमीश्वरम्॥

अर्थात्—हृदय रूपी कमल की कर्णिका में दीपशिखा के समान अंगुष्ठमात्र आकार के ओंकार रूप ईश्वर का ध्यान करना चाहिए।

'हस-द्वन्द्व' कहने से ह-स रूप दो प्रकार की ध्वनियों का भी बोध होता है। ध्यानबिन्दु-पनिषत् में हंस-जप को अजपा गायत्री की संज्ञा दी गई है। यथा—

हकारेण वहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥
शतानि षड् दिवारात्रं सहस्राण्येक विंशतिः।
एतत्संख्याऽन्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा॥

अर्थात्—यह प्राण 'हकार' ध्वनि से बाहर जाता और सकार ध्वनि से पुनः भीतर आता है। इस प्रकार जीव सदा हंस-हंस मन्त्र का जप करता रहता है। एक दिन रात्रि में इस जप की संख्या इक्कीस हजार छः सौ होती है। इसे अजपा गायत्री कहते हैं, यह योगियों के लिए सदैव मोक्ष के देने वाली है।

'मानसचर' से अभिप्राय पवित्र मन में रमण करना है। नारदपरिव्राजकोपनिषत् के अनुसार 'यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा' अर्थात् जिसकी मन-वाणी में पवित्रता है, वही सदा भले प्रकार से वेदान्त की गोपनीयता का रहस्योद्घाटन करने में समर्थ होता है।

विद्याएँ अठारह हैं—(१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) ज्योतिष, (६) छन्द, (७) ऋक्वेद, (८) यजुर्वेद, (९) सामवेद, (१०) अथर्ववेद, (११) मीमांसा द्वय (१२) न्याय, (१३) पुराण, (१४) धर्मशास्त्र, (१४) आयुर्वेद, (१६) धनुर्वेद, (१७) गान्धर्वशास्त्र, (१८) नीतिशास्त्र। यह सभी विद्याएँ हंसविद्या के ज्ञाता योगी को स्वयं ही प्राप्त होजाती हैं।

तव स्वाधिष्ठाने हुतवहमधिष्ठाय निरतं
तमीडे संवर्तं जननि महतीं तां च समयाम्।
यदालोके लोकान् दहति महति क्रोधकलिते
दयार्द्रा या दृष्टिः शशिरमुपचारं रचयति ॥३९॥

टीका—हे जननि! तुम्हारे स्वाधिष्ठान चक्र में जो अग्नि तत्व है, उसे उस अधिष्ठान में (संयत) रखने वाला जो संवर्ताग्नि रहता है, मैं उसकी और उन महती काल-सम्पन्ना भगवती

समया की स्तुति करता हूँ। जब वह संवर्ताग्नि अपनी अत्यन्त क्रोधमयी दृष्टि से सब लोकों का भस्म करने लगता है, तब उन भगवती की दयार्द्र दृष्टि शीतल उपचार में लगी रहती है ॥३९॥

व्याख्या—यह षट्चक्रों के अन्तर्गत स्वाधिष्ठान चक्र की ओर संकेत करने वाला श्लोक है। जाग्रत् होने के पश्चात् कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना के भीतर इसी स्थान में रहती है। इस चक्र का प्रकाश विद्युत् के समान माना जाता है। गुदा से हृदय तक अग्नि का स्थान कहा गया है, उस अग्नि का संयत रहना आवश्यक है। 'वह्नौ चानिलमारोप्य' (योग त० उ०) के अनुसार अग्नि में वायु का आरोप करके त्रिनयन रुद्र का ध्यान करना चाहिए।

संवर्ताग्नि का अर्थ प्रलयाग्नि है। उसी को कालाग्नि कहते हैं। काल उसे कहते हैं जो सब भूतों का नाश करे। कालीतत्व के विवेचन में कहा गया है कि वह काल तत्व पर प्रतिष्ठित रहती हैं। सप्तशती के अनुसार भगवती का भूतल पर अवतीर्ण होना देवताओं की कार्य सिद्धि के लिए होता है, यथा— देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा।' और देवताओं की कार्यसिद्धि में ही त्रिलोक की कार्यसिद्धि निहित है।

संवर्ताग्नि की स्तुति का एक अभिप्राय और भी है. यह कुण्डलिनी जागरण की योगिक क्रिया से सम्बन्धित है। कुण्डलिनी को जगाने के लिए साधक को निर्देश है कि वह पद्मासन लगा कर गुदा का आकुंचन करता हुआ कुम्भक के द्वारा वायु को ऊपर चढ़ावे और उस वायु के जोर से ही स्वाधिष्ठान चक्र की अग्नि को प्रज्वलित करे—

वायुमूर्ध्वगतं कुर्वन् कुम्भकादिष्टमानसः ।
वाटवाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन् ।।

—यो० कु० उ० १।८४

इस प्रकार अग्नि और वायु के सम्मिलित आघात से सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत् होती है। मेढ़् स्थान के नीचे स्वशब्द युक्त प्राण का स्थित होना कहा है। यह प्राण स्वाधिष्ठान चक्र के ही आश्रय में रहता हैं। 'स्वशब्ददेन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयम्' (ध्या. बि. उ.)

जो प्राण स्वाधिष्ठान चक्र में स्थित है, वही सब लोकों को धारण करता है। प्राण ही त्रिदेवात्मक हैं, इस विषय में शास्त्र का कथन है—

प्राणोऽपि भगवानीशः प्राणो विष्णुः पितामह ।
प्राणेन धार्यंते लोकाः सर्वं प्राणमयं जगत् ।।

अर्थात्—प्राण ही शिव, विष्णु और ब्रह्मा है, प्राण पर ही सम्पूर्ण लोक स्थित हैं। यह समुचा जगत् ही प्राणमय है।

ब्रह्मादितृणपर्यन्तं प्राणिनां प्राणवर्द्धनम्' इत्यादि से उषा को सम्बोधित करते हुए शिव ने कहा कि ब्रह्म से तृण पर्यन्त सभी प्राणियों के प्राणों की वृद्धि करने वाला उच्छवास और निश्वास ही मन्त्र कहलाता है। मेढ़् से ऊपर, नाभि से नीचे पक्षी के अण्डे की आकृति वाले कन्द से बहत्तर हजार नाड़ियाँ निकली हैं, उनमें से 'प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दश स्मृताः' अर्थात् दस प्रधान नाड़ियाँ प्राण को चलाने वाली कहलाती हैं—इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अल-

म्बुसा, कुहु और शंखिनी। योगियों को इस नाड़ीचक्र का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

तडित्वन्तं शक्त्या तिमिरपरिपन्थिस्फुरणया
स्फुरन्नानारत्नाभरण परिणद्धेन्द्र धनुषम्।
तमः श्यामं मेघं कमपि मणिपूरैकशरणं
निषेवे वर्षन्तं हरमिहिरतप्तं त्रिभुवनम् ॥४०॥

टीका—मैं तुम्हारे मणिपूर के शरणागत श्याम मेघों के रूप को धारण करने वाली जल की सेवा करता हूँ, जिनमें अंधकार नाशिनी (विद्युत् की) चमक आभरणों में जड़े हुए विविध रत्नों की चमक के समान इन्द्रधनुष का रूप धारण किये हुए अग्नि और सूर्य के ताप से संतप्त हुईत्रिलोकी पर वर्षा करते हैं ॥४४॥

व्याख्या—स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर नाभिमूल में स्थित मणिपूर चक्र में मेघेश्वर और सौदामिनी शक्ति का ध्यान किया जाता है। ध्यानबिन्दूपनिषत् में मणिपूर चक्र के विषय में कहा गया है—

तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम्।
द्वादशारमहाचक्रे पुण्यपापनियन्त्रितः ॥

अर्थात्—नाभिमण्डल में स्थित चक्र ही मणिपूरक कहलाता है। वही बारह अरों वाले महाचक्र में पुण्य-पाप का नियन्त्रण होता है।

'मणिपूरं नाभिदेशं' अर्थात् 'मणिपूर चक्र का स्थान नाभि है।' उसका वर्ण मेघ के समान श्याम बतलाया गया है। इस

चक्र के अधिपति देवता सिन्दूर जैसे वर्ण वाले एवं भस्म रमाये हुए, त्रिनेत्र रुद्र हैं। यह चक्र प्रकाशमान भी है। ब्रह्मोपनिषत् में कहा है—

नाभिस्थाने स्थितं विश्वं शुद्धतत्वं सुनिर्मलम्।
आदित्यमिव दीप्यन्तं रश्मिभिश्चाखिलंशिवम्॥

अर्थात्—वह विश्व को शुद्ध करनेवाला तत्व अत्यन्त निर्मल है, वह शिवस्वरूप तत्व नाभि स्थान में स्थित रहकर सूर्य के समान सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करता है।

शाण्डिल्योपनिषत् से भी मणिपूर विषयक ध्यानबिन्दूपनिषत् के मत की पुष्टि होती है। उसमें कहा है—

'तन्मध्ये नाभिः, तत्र द्वादशारयुतं चक्रम्, तच्चक्रमध्ये पुण्य पाप प्रचोदितो जीवो भ्रमति, तन्तुपंजरमध्यस्थलूतिका यथा भ्रमति तथा चासौ तत्र प्राणश्चरति, देहऽस्मिजीवः प्राणारूढ़ो भवेत्। नाभेस्तिर्यगधोर्ध्वं कुण्डलिनी स्थानम्।

अर्थात्—उसके मध्य में नाभि है, जिसमें बारह अरों वाला चक्र है। उस चक्र के मध्य में पुण्य-पाप से प्रेरित हुआ जीव घूमता फिरता है। इसी प्रकार यह प्राण भी वहीं भ्रमता रहता है। इस शरीर में जीव प्राण के ऊपर आरूढ़ रहता है। नाभि की बगल में नीचे-ऊपर कुण्डलिनी का स्थान है।

सूर्य मण्डल में जो सूर्य का स्थान है वह ऊपर और अग्नि मंडल में अग्नि का स्थान नीचे स्वाधिष्ठान चक्र में है। इन दोनों के ताप त्रिखण्ड शरीर रूपी त्रिलोकी तप्त हो जाती और भाप का रूप धारण कर जल मणिपूर चक्र में मेघ के समान

होजाता है तब वहाँ अग्नि की चमक विद्युत् जैसी हो जाती है। शाण्डिल्योपनिषत् के 'अग्नेरुपरिजलं स्थाप्य' इत्यादि से अग्नि के ऊपर जल और जल पर अन्न रखकर अपान के पास पहुँचा हुआ वायु, अपान को साथ लेकर अग्नि की ओर जाता है। यह अग्नि अपनी ज्वाला और प्राणवायु के द्वारा कोष्ठ स्थित जल को उष्ण करके जल पर रखे हुए अन्न का पाक करता हुआ उसमें से स्वेद, मूत्र, रक्त, वीर्य, रस, विष्ठा आदि को पृथक्-पृथक् करके उन-उन नाड़ियों में पहुँचाता है, शरीर में मेघ की वर्षा के समान उसी को समझना चाहिए।

तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया
शिवात्मानं मन्ये नवरस महाताण्डवनटम् ।
उभाभ्यामेताभ्यामुभय विधि मुद्दिश्य दययां
सनाथाभ्यां जज्ञे जनकजननीमज्जगदिदम् ॥४१॥

टीका—मैं तुम्हारे मूलाधार में विलास करती हुई काल-सम्पन्ना (समया) देवी के साथ नवरस युक्त ताण्डव नृत्य करने वाले नटराज शिवात्म का मानसिक चिन्तन करता हूँ, जिन दोनों (शिव-शिवा) की जनक-जननी के समान दया से अभिभूत हुआ जगत् अपने को सनाथ समझता है ॥४१॥

व्याख्या—इसमें शिव-शिवा के आनन्दमय नृत्यों का वर्णन करते हुए उनकी दया प्राप्ति की कामना की गई है। इसमें 'लास्य' से भगवती के नृत्य का और ताण्डव से शिव के नृत्य का तात्पर्य है। योगशिखोपनिषत् में आधार चक्र में प्राण का निरोध करके योगी नृत्य-सा करने लगता है, यथा 'आधारवात-रोधेन शरीरं कम्पते यदा' अर्थात् आधारचक्र में प्राण वायु का

निरोध होने पर देह काँपने लगता है। इसके साथ ही यह भी कहा है कि उस कम्पनावस्था के पश्चात् 'आधारवातरोधेन योगी नृत्यति सर्वदा' अर्थात् 'आधारचक्र में प्राणवायु का निरोध होने पर योगी नाचने लगता है।'

योगतत्वोपनिषत् से भी इसकी पुष्टि होती है—'कम्पो भवति देहस्य आसनस्थस्य देहिनः' अर्थात् 'आसन में स्थित साधक के शरीर में कम्प होने लगता है और अधिक अभ्यास होने पर मेंढक जैसी चेष्टा (उछल-कूद) होने लगती है।

मूलाधार कुण्ठलिनी क्रियाशक्ति का केन्द्र बिन्दु है। उसी के द्वारा मनुष्य अपने ही समान नवीन मनुष्य को जन्म देने में समर्थ होता है। शिवलिंगार्चन में एक परम आध्यात्मिक तत्व ज्ञान का संकेत मिलता है, जिससे यह समझना सरल होजाता है कि देह के इस अवयव में ब्रह्म की पराशक्ति के अत्युत्कृष्ट अंश का समावेश है। इसीलिए बिन्दु की रक्षा करने का निर्देश देने में सभी विद्वान् एक मत हैं।

शिवलिंग पर जल के अभिषेक होते रहने में भी एक ऐसा रहस्य भरा पड़ा है, जिसे समझ लेने पर यह स्पष्ट होजाता है कि उसे शीतल रखा जाय, अर्थात् उत्तेजित न होने दिया जाय। इसका सीधा-साधा अर्थ है कि योगी को ऊर्ध्वरेता रहना चाहिए जिससे कि मूलाधार में स्थित क्रियाशक्ति का अपव्यय न हो। इसीलिए योगचूड़ामण्युपनिषत् में कुण्डलिनी शक्ति को 'बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा सदा' कह कर अज्ञानियों के लिए बन्धनदात्री और योग के लिए मोक्षदात्री सिद्ध किया है। क्योंकि अज्ञानीजन ही वीर्यक्षय के रूप में उस शक्ति का अपव्यय करते हैं, ज्ञानी पुरुष ऐसा कभी नहीं कर सकते।

शिव के महाताण्डव नृत्य का पुराणों में उल्लेख मिलता है। शिव पुराण में विष्णु द्वारा शिव सहस्रनाम का कीर्तन करते हुए 'नृत्यप्रियो नित्यनृत्यः' का नाम दिया गया है। इसका अर्थ हुआ कि शिव को नृत्य इतना प्रिय है कि वे नृत्य में नित्य ही तल्लीन रहते हैं। इससे यह अभिप्राय स्पष्ट होता है कि वे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहृति के कार्य में सदा उद्यत रहते हैं, इसीलिए उनका एक नाम 'महोत्साहः' भी है।

'जनक-जननीमज्जगदिदम्' कह कर शिव-शिवा की दया से सनाथ होना कहा है। उसका स्पष्ट अर्थ यही है कि शिव-शिवा ही इस लोकत्रयी को उत्पत्ति करने वाले हैं। 'रुद्रो यज्ञ उमा वेदिः' (रु. हृ. उ.) अर्थात् 'रुद्र यज्ञ है तो उमा वेदी हैं' अथवा 'रुद्रो लिंगमुमापीठं' से रुद्र उपस्थ और उमा को योनि समझना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि रुद्र-उमा अर्थात् शिव-शिवा ही जीव के लिए सच्चे अर्थों में पिता-माता हैं। भौतिक पिता-माता तो केवल इस नश्वर शरीर को उत्पन्न करने में ही समर्थ हैं। यह आवश्यक नहीं कि परजन्म में भी वही पिता पिता रहे और वही माता माता रहे। योगतत्त्वोपनिषत् में स्पष्ट कहा है—

यस्माज्जातो भगात्पूर्वं तस्मिन्नेव भगे रमन्।
या माता सा पुनर्भार्या या भार्या मातरेवहि॥
यः पिता स पुनः पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिता।
एवं संसारचक्रेण कूपचक्रे घटा इव॥

अर्थात्—जिस योनि से पहिले जन्म में उत्पन्न हुआ उसी में अगले जन्म में रमण करता है। जो एक जन्म में माता होती है वह पुनर्जन्म में भार्या हो जाती है और जो भार्या होती है। वह माता होजाती है। जो पिता होता है वह पुत्र बन जाता है और पुत्र पिता के रूप में जन्म लेता है।

क्योंकि आत्मा भौतिकता से अत्यन्त भिन्न है, उसका कोई शत्रु, मित्र, पुत्र, माता, पिता, बहिन, जन्म मरण आदि नहीं है। तेजोबिन्दूपनिषत् का इस विषय में यह कथन है—

न शत्रु मित्र पुत्रादिर्न माता न पिता स्वसा।
न जन्म न मृतिर्वृद्धिर्न देहोऽहमिति भ्रमः॥

इस सब से यही सिद्ध होता है कि जीव के वास्तविक पिता-माता शिव-शिवा ही हैं और वह उन्हीं की दया प्राप्त करके सनाथ हो सकता है।

॥ पूर्वार्द्ध आनन्द लहरी समाप्त ॥

———

उत्तरार्द्ध सौंदर्य लहरी

गतैर्माणिक्यत्वं गगनमणिभिः सान्द्रघटितं
किरीटं ते हैमं हिमगिरिसुते कीर्तयति यः ।
स नीडेयच्छायाच्छुरणशबलं चन्द्रशकलं
धनुःशौनासीरं किमित न निबध्नातिधिषणाम्।।१।।

टीका—हे हिमगिरिसुते ! जो तुम्हारे स्वर्ण-निर्मित मुकुट का कीर्तन करता है, उसे इन्द्र धनुष जैसा निकला हुआ क्यों न प्रतीत होगा ? क्योंकि वह कीरिट आकाश में जटित मणियों अर्थात् तारागण से जड़ा हुआ है और वह उषाकाल के प्रकाश में रंग-विरंगा सा चमकता हुआ ऐसा लगता है, जैसे चन्द्रकला से निर्मित पक्षियों का नीड हो ।।१।।

व्याख्या—श्लोक में उषाकला के आकाश को भगवती का किरीट माना है। यह उषाकाल ही कर्मवानों के लिए कर्म में प्रयुक्त करता है। देव्युपनिषत् में देवता उन्हें नमस्कार करते हुए निवेदन करते हैं 'नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणताः स्म ताम्' अर्थात् 'भद्रपुरुषों को कर्त्तव्य में प्रवृत्त करने वाली कल्याणमयी देवी को नमस्कार है।

भगवती का बीज आकाशयुक्त और सर्वार्थ-साधक है, वह ईकारमय एवं अर्द्धचन्द्र से विभूषित है, यथा—

वियदीकारसंयुक्तं वीतिहोत्र समन्वितम् ।
अधेन्दुलसितं देव्या बीजं सर्वार्थ साधकम् ।।

शिवपुराण में भी 'सर्वे ह्युषः प्राङ्मुखश्च' कह कर उषाकाल में उठने और पूर्वाभिमुख होकर देवताओं के पूजन करने का 'निर्देश है। युवोर्हि पूर्वं सवितोषसो रथमृताय चित्रं घृतवन्तमिष्यति' अर्थात् 'उषाकाल से पूर्व सूर्य तुम्हारे (अश्विनीकुमारों के) घृतयुक्त रथ को यज्ञ में आने के लिए प्रेरित करते हैं।' इस प्रकार श्लोक में भगवती को शोभा-वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने उषाकाल में उठ कर देवी की उपासना का निर्देश किया है।

'अभूदु भाउ अंशवे हिरण्यं प्रति सूर्यः। व्यख्यज्जिह्वयासितः। (ऋ० १।६।४६।१०) अर्थात् 'उषाकाल में सूर्य स्वर्ण की आभा सहित प्रकाशित होगया और अग्नि श्यामवर्ण का होता हुआ अपनी लपट रूप जिह्वा से प्रकट होने लगा।' इससे भी उक्त मन्तव्य की ही पुष्टि होती है।

वेदों में उषा को आकाश की पुत्री कहा है, वह अत्यन्त कान्तिमयी है यथा——

सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितर्दिवः।
सह द्युम्नेन वृहता विभावरि राया देविदास्वती॥

—ऋक् १।६।४८।१

अर्थात्—हे आकाश-पुत्री अत्यन्त कान्तिवती उषे! तुम हमें प्रशंसायुक्त उपभोग्य और यश प्राप्त कराने वाले धन के प्रकट होओ।

उत्तम मार्ग पर चलती हुई उषा गृह स्वामिनी के समान सबका पालन करती और नमनशीलों को जरावस्था प्राप्त कराती है। वही पाँवों वाले जीवों को कर्म में लगाती और पक्षियों को उड़ाती है, यथा 'जरयन्ती वृजनं पद्वदीयत उत्पातयति पक्षिणः' (ऋ० १।६।४८।५) इससे श्लोक का यथार्थ भावार्थ स्पष्ट होजाता है कि उषाकालही हमें उपासना की प्रेरणा देता और कर्मों में लगाता है।

घनोतु ध्वान्तं नस्तुलितदलितेन्दीवरवनं
घनस्निग्धंश्लक्ष्णं चिकुरनिकुरुम्बं तवशिवे ।
यदीयं सौरभ्यं सहजमुपलब्धुं सुमनसो
वसन्त्यस्मिन्मन्ये बलमथनवाटी विटपिनाम् ॥२॥

टीका—हे शिवे ! तुम्हारे घने, चिकने, कोमल केश खिले हुए नीलकमल-वन के समान हैं, वह हमारे अज्ञानान्धकार को दूर करें । मैं समझता हूँ कि उन केशों में जो इन्द्र-वाटिका के विटपों के पुष्प गुन्थे हैं, वे इन केशों की सहज सुगन्ध से सुगन्धित होने के लिए स्वयं ही उनमें आ लगे हैं ॥२॥

व्याख्या—श्लोक में केशों की उपमा अज्ञानरूप अन्धकार से दीगई । भगवती कृपा करना चाहती हैं तो अज्ञानियों के हृदयों में भी ज्ञान का प्रकाश भर देती है । तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम्' (दे० उ०) अर्थात् 'वे अग्नि के समान तेजोमयी, ज्ञान से प्रकाशमाना और कर्मफल की प्राप्ति के लिए सेव्यमाना उन दीप्तिमयी दुर्गा की हम शरण लेते हैं ।' सरस्वतीरहस्योपनिषत् में स्पष्ट कथन है—

यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसादमन्द्रा ।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम ॥
नमामि यामिनीनाथ लेखाऽलंकृत कुन्तलाम् ।
भवानीं भवसन्तापनिर्वापण सुधानदीम् ॥

अर्थात्—दिव्य भावों को प्रकट करने वाली, देवताओं को आनन्दित करने वाली, अज्ञानियों को ज्ञान प्रदान करने वाली और यज्ञ में विराजमान होने वाली भगवती सब दिशाओं के

लिए अन्न-जल दुहती है, जो इस मध्यमा वाणी में श्रेष्ठ है उसका गमन कहाँ होता है ? चन्द्रकला से विभूषित केश वाली, संसार बन्धन को काटने वाली सुधायुक्त नदीरूपिणी भगवती को मैं नमस्कार करता हूँ।

इन्द्र की वाटिका के पुष्पों का उनके केशों में गुँथे हुए कहने का तात्पर्य उन्हें सर्वोच्च सत्ता सिद्ध करना ही है। 'अहं मित्रा-वरुणावुभा विभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहममश्विः ना वुभौ' (देव्यु-निषत् ४) के अनुसार देवी स्वयं कहती हैं कि 'मैं ही मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि और अश्विनीकुमारों का पालन करने वाली हूँ।'

वे पुष्प भगवती की केश राशि में आकर उसकी सुगन्ध से ही सुगन्धित हुए बताये हैं। इससे यह सिद्ध होता है पुष्पों में जो सुगन्ध है वह प्रकृति-स्वरूपा भगवती की ही देन है। क्योंकि भगवती ही विश्व की सब अवस्थाओं की जननी है, वही देव-ताओं के लिए हवि वहन करती है। इसलिए ब्रह्म से अभिन्न ब्रह्मशक्ति की उपासना करना श्रेयस्कर है।

वहन्ती सिन्दूरं प्रबलकबरीभारतिमिर-
द्विषां वृन्दैर्बन्दीकृतमिव नवीनार्क भिरणम्।
तनोतुक्षेमं नस्तव वदन सौन्दर्यलहरी
परिवाहः स्रोतः सरणिरिव सीमान्तसरणिः ॥३॥

टीका—तुम्हारे मुख की सौन्दर्य लहरी के प्रवाह स्रोत में बहती हुई धारा के समान तुम्हारी केशराशि में सिन्दूर से भरी हुई माँग, कल्याण मार्ग के समान हमारे कल्याण की वृद्धि करे।

वह माँग केशों के भारयुक्त अन्धकार रूप प्रबल शत्रु-वृन्दों से बन्दी बनाई हुई एव नवोदित सूर्य की अरुण किरण के समान प्रतीत होती है ॥३॥

व्याख्या—देवी की माँग का कल्याण-मार्ग कह कर दिव्य शोभा का वर्णन किया गया है। वह माँग केशों के अन्धकारयुक्त भार अर्थात् अज्ञानान्धकार के बोझ से दबी हुई जैसी प्रतीत होती है, जैसे कि शत्रुओं ने उसे बन्दी बना लिया हो और फिर भी वह बन्दीगृह के सींकचों से दिखाई देती हो। इस कथन का अभिप्राय यह है कि अज्ञानियों को भगवती की माँग के सौन्दर्य में भी भ्रम रहता है और वे स्त्री-रूप पर ऐसे मोहित रहते हैं, कि स्त्रीमात्र को भोग्या समझते हैं। उनके उस अज्ञानांधकार को दूर करने में भगवती की कृपा ही नवोदित सूर्य के समान होती है। इससे यह भी समझा जा सकता है कि सूर्योदय के होते-होते ही उपासना-कार्य में लग जाना चाहिए।

श्लोक में सूर्योपासना की ओर भी संकेत हो सकता है। क्योंकि सूर्य की उपासना से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति और रोग एवं दरिद्रता की निवृत्ति होती है. यथा—'सूर्याभिमुखो जप्त्वा महाव्याधिभयात् प्रमुच्यते, अलक्ष्मीर्नश्यति' इत्यादि (सू० उ०)

'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषञ्च, सूर्याद्व खल्विमानि भूतानि जायन्ते, सूर्याद्यज: पर्जन्योऽन्नमात्मा' (सू० उ०) अर्थात् 'सूर्य सम्पूर्ण स्थावर जंगम के आत्मा हैं इन्हीं से इन भूतों की उत्पत्ति होती है, उन्हीं से यज्ञ, मेघ और आत्मा आविर्भूत होते हैं।'

श्लोक में अज्ञान से उत्पन्न कामादि विकार रूप शत्रुओं का भी संकेत है, जिन्होंने असंग आत्मा को अपने जाल में फाँस कर बन्दी बनाया हुआ है। वेद का कथन है—

एनद्धेदुत वीर्यमिन्द्र चकर्थ पौंस्यम् ।
स्त्रियं यद्दुर्हणायुवं वधीर्दुहितरं दिवः ॥

अर्थात्—हे इन्द्र ! तुम दुष्ट पर अत्यन्त क्रोध करने वाले हो जैसे सूर्य अपने प्रकाश से उषा को नष्ट कर देता है, वैसे ही तुम एकत्र हुई शत्रु-सेना को नष्ट करते हो।

इन सबसे सिद्ध होता है कि जब तक कामादि विकार रूप शत्रुओं का अस्तित्व रहता है, तब तक जीव को बन्धन में रहना होता है और जब तत्वज्ञान होजाता है तब सभी बन्धन कट जाते हैं। यथा—'शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति' अर्थात् 'तत्वज्ञान की प्राप्ति से पूर्व में सैकड़ों कठोर पिंजरों के बन्धन में पड़ा रहा था, अब मैं श्येन के समान वेग के द्वारा उन्हें (तत्वज्ञान से) काट कर मुक्त होगया हूं।'

अरालैः स्वाभाव्यादलिकलभसश्रीभिरलकैः
परीतं ते वक्त्रं परिहसति पंकेरुह रुचिम् ।
दरस्मेरे यस्मिन्दशनरुचि किंजल्करुचिरे
सुगन्धौ माद्यान्ति स्मरदहनचक्षुर्मधुलिहः ॥४॥

टीका—स्वाभाविक घुँघराली और तरुण भ्रमरों की कान्ति के समान अलकों से परिपूर्ण तुम्हारा मुख पंकजों की शोभा की हँसी उड़ाता है, जिसमें स्फटिक जैसे दाँतों से कुछ मुसकराने पर निकलने वाली सुगन्ध से कामदेव को भस्म करने वाले शिव के नयन रूपी भ्रमर मुग्ध होजाते हैं ॥४॥

व्याख्या—भगवती के मुखकमल के सामने सरोवर में उत्पन्न होने वाले कमलों की शोभा फीकी है। उनके मुख की शोभा

इसलिए भी अद्वितीय है कि वे देवताओं के लिए अपने यज्ञ रूपी मुख से हवियाँ पहुँचाती हैं। सीतोपनिषत् में उन्हें विद्युन्माला के समान मुख वाली कहा है।

देवी के मुख की मुसकान में जो प्रसन्नता भरी है, वह वर-मुद्रा को सूचित करती है। देवी प्रसन्न होती हैं तो साधक को भोग या मोक्ष प्रदान करती हैं। राधोपनिषत् में 'सैव यस्य प्रसीदति तस्य करतलावकलितम्परमधामेति' कह कर उन्हें प्रसन्न होते ही तुरन्त परमधाम की प्राप्ति कराने वाली कहा है।

भगवती के मुख से जो सुगन्ध निकलती है, वह शुभ आचरण की प्रेरणा देती है। उसमें कामादि विकारों को नष्ट करने का संकेत हैं। उन विकारों से मुक्त हुए साधक के भी शरीर से दिव्य गन्ध निकलने लगती है—'दिव्य-देहश्च तेजीस्वी दिव्य-गंधोऽप्यरोगवान्' (सौ. ल. उ.)

कामदेव को भस्म करने वाली शिव के नयन की ओर संकेत करके ग्रन्थकार ने ज्ञाननेत्र की ओर संकेत किया है, जिसके खुलते ही अज्ञान रूपी कामदेव तुरन्त भस्म होजाता है। इससे यह भी निर्देश समझना चाहिए कि कामादि वासनाओं को जीतना अत्यन्त आवश्यक यह वासनाएँ साधक के लिए विघ्न स्वरूप हैं। इनके कारण किसी भी सिद्धि की प्राप्ति सम्भव नहीं। विशेषकर मुमुक्षुजनों के लिए तो वासनाओं का त्याग करना ही परम श्रेयस्कर है।

इस प्रकार कामादि विकारों से दूर रह कर जो साधक भगवती को प्रसन्न कर लेता है, वह उनके मधुर मुसकान युक्त मुख कमल से इच्छित भोग या मोक्ष प्राप्त करने में सफल होजाता है। यही इस श्लोक का स्पष्ट अभिप्राय है।

इसका दूसरा भाव अज्ञानान्धकार रूपी केशराशि को चीर कर निकलते हुए ज्ञान रूपी सूर्य से भी है, जो कि भोग-वासना रूपी भौतिक कमलों को तिरस्कृत करने में समर्थ है। उस मुख में जो दन्तावलि बतलाई गई है, वह शक्ति के प्रसन्न होने पर मुख से सुगन्ध रूप सृष्टि-रचना में लगती है और जब वह अप्रसन्न होती हैं, तब प्रलय होजाती है। अर्थात् भगवती की प्रसन्नता में निर्माण और अप्रसन्नता में नाश निहित है। गीता के ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन द्वारा उसी का वर्णन किया गया है—

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः॥

अर्थात्—(सभी योद्धागण) वेग से आपके विकराल जबड़ों वाले भयंकर मुखों में प्रवेश करते हैं और अनेक चूर्ण हुए शिरों के सहित आपके दाँतों के मध्य में लगे हुए दिखाई देते हैं।

'दन्तोष्ठावुभे सन्ध्ये' (गा. र. उ.) अर्थात् 'भगवती गायत्री के दाँतों के ओष्ठ दोनों सन्ध्याएँ हैं।' इससे सिद्ध होता है कि श्लोक में दाँतों से निकलने वाली मुसकराहट काल-विषयक है, जो कि संसार की सृष्टि, स्थिति और संहृति का नियामक है।

ललाटं लावण्यद्युतिविमलमाभाति तव यद्
द्वितीयं तन्मन्ये मुकुट घटितं चन्द्रशकलम्।
विपर्यासन्यासादुभयमपि संभूय च मिथः
सुधालेपस्यूतिः परिणमति राकाहिमकरः॥५॥ 46

टीका—तुम्हारा जो ललाट लावण्य और कान्ति से निर्मल रूप से चमकता है, वह मुकुट में जड़ी हुई द्वितीय चन्द्रकला के

समान है । वह (ललाट और मुकुट रूप दोनों) कलाएँ परस्पर उलट कर रखने से एक रूप बन कर और सुधा के लेप से लिप कर पूर्ण चन्द्र के समान होगया है ।।५।।

व्याख्या—ललाट को चन्द्रकला की उपमा देकर उसे अत्यंत तेजोमय कहा गया है । गायत्रीरहस्योपनिषत् में रुद्र को ही भगवती गायत्री का ललाट कहा गया है (ललाटंरुद्रः) और रुद्र परम तेजस्वी हैं ही, क्योंकि सभी शास्त्र उन्हें स्वयं प्रकाश कहते हैं । शरभोपनिषत् में 'सोमसूर्याग्निनेत्रः' कह कर सूर्य, चन्द्र और अग्नि को रुद्र के तीन नेत्र माने गये हैं और जिसके नेत्र यह तीनों ही हों उसके बढ़ कर तेजस्वी और कौन हो सकता है ?

चन्द्रमा से अमृत का स्राव होना कहा है, उसकी दो कलाएं सीधी-उलटी एक दूसरी पर रखी हुई होने से उनका योग अमृत-स्राव रूप लेह से लिप कर पूर्णचन्द्र जैसा होना कहा है । इससे ललाट रूप रुद्र और कलारूप शक्ति का एकीकरण समझा जा सकता है । 'रुद्रः सोम उमा तारा' (रुद्रहृदय०) अर्थात् 'रुद्र चन्द्रमा रूप और उमा तारा रूप हैं' इस प्रकार शिव-शिवा का अभेद प्रतिपादन हुआ जान कर साधक को ब्रह्म-साक्षात्कार के प्रयत्न में लगना चाहिए ।

भ्रुवौ भुग्ने किंचिद् भुवनभयभंगव्यसनिनि
त्वदीये नेत्राभ्यां मधुकररुचिभ्यां धृतगुणम् ।
धनुर्मन्ये सव्येतरकरगृहीतं रतिपतेः
प्रकोष्टे मुष्टौ च स्थगयति निगूढान्तरमुमे ।।६।।

टीका—हे उमे ! हे भुवन-भय (जन्ममरण के भय) को नाश करने के स्वभाववाली ! तुम्हारे भ्रुवों की चढ़ी हुई त्यौरी

कामदेव के बाँये हाथ में गृहीत उस धनुष के समान है, जिसकी प्रत्यंचा तुम्हारे भ्रमर समान नेत्रों से निर्मित है और जिसका मध्य भाग कलाई और मुट्ठी के नीचे गया है ॥६॥

व्याख्या— भगवती जन्म-मरण के भय को दूर करने वाली हैं। 'नमामि त्वामहं देवीं महाभयविनाशिनीम्' कहते हुए देवताओं ने भी भगवती को महाभय का नाश करने वाली कहा है। उनकी भ्रुवों की त्यौरी चढ़ने में ही लोक का विनाश होजाता है।

भगवती की चढ़ी हुई त्यौरी को कामदेव के धनुष के समान कह कर उन्हें कामादि विकारों को दमन करने वाली सिद्ध किया है। कुण्डलिनी शक्ति जागती है तब सबसे पहले मन में जमे हुए कुसंस्कारों पर ही आघात करती है। वह उन्हें चबा डालती है, जिससे उनके स्थूल भाव नष्ट होकर सूक्ष्म भावों के रूप में परिवर्तित होजाते हैं।

कामदेव के धनुष की प्रत्यंचा को देवी के नेत्रों से निर्मित कहने का एक तात्पर्य यह है कि भगवती ही मन से कामादि विकारों को उत्पन्न करने वाली हैं और दूसरे नेत्र से उनविकारों का शमन कर देती हैं। अर्थात् अपने एक नेत्र से तो वही अज्ञानियों के हृदय में विकारों को उत्पन्न करतीं और वही मुमुक्षुओं के चित्त में ज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष प्रदान करती हैं।

अहः सूते सव्यं तव नयनमर्कात्मकतया
त्रियामां वामं ते सृजति रजनीनायकतया।
तृतीया ते दृष्टिर्दरदलितहेमाम्बुजरुचिः
समाधत्ते सन्ध्यां दिवसनिशयोरन्तरचरीम् ॥७॥

टीका—तुम्हारा दाहिना नेत्र सूर्यरूप से दिवस और बाँया नेत्र चन्द्ररूप से रात्रि का निर्माण करता है। तुम्हारी तृतीय

दृष्टि स्वर्ण-निर्मित कुछ विकसित कमल की शोभा से सम्पन्न तथा दिवस-रात्रि के मध्य में स्थित सन्ध्या है ॥८॥

व्याख्या—देवी ही कालस्वरूपिणी हैं अर्थात् वही दिन-रात्रि को उत्पन्न करती हैं। सीतोपनिषत् में 'सूर्यादिसकलभुवनप्रकाशिनी दिवा रात्रिः कालकलानिमेषमारभ्य घटिकाऽष्टयाम दिवस वारादिभेदेन पक्षमासर्त्वयन संवत्सरभेदेन मनुष्याणां शतायुः कल्पनया प्रकाशमाना' (सीतोपनिषत् १४) अर्थात् 'वे ही सब लोकों को प्रकाशित करती हैं। दिवस, रात्रि, निमेष, घड़ी, पक्ष, मास ऋतु, अयन और संवत्सर आदि के भेद से मनुष्यों को शतायु प्रदान करती हुई स्वयं प्रकाशित होती हैं। 'चक्षुषी चन्द्रा दित्यौ' (गा. र. उ.) अर्थात् 'चन्द्र-सूर्य देवी के दो नेत्र हैं।' और तीसरा नेत्र सायंकालीन संध्या है। परन्तु उसे भी स्वर्ण निर्मित दृष्टि कह कर ग्रन्थकार ने शोभामयी सिद्ध किया है और यथार्थ में मुमुक्षु साधक के लिए तो प्रातःकाल हो या रात्रि, अथवा सन्ध्याकाल आदि कोई भी समय हो, सब समान ही है।

इस प्रकार इससे यही समझना चाहिए कि मुमुक्षु साधक के लिए सब समय साधना में ही लगे रहना चाहिए। इसमें त्रिकाल सन्ध्या का निर्देश भी निहित है।

विशाला कल्याणी स्फुटरुचिरयोध्या कुवलयैः
कृपाधारा धारा किमपि मधुरा भोगवतिका।
अवन्ती दृष्टिस्ते बहुनगर विस्तार विजया
ध्रुवं तत्तन्नामव्यवहरणयोग्या विजयते ॥८॥

टीका—तुम्हारी दृष्टि विशाला, कल्याणी, विकसित कमलों की शोभा से अधिक अयोध्या, कृपाधारा के समान धारा,

किंचित् मधुरा, भोगवतिका, सर्वरक्षिका अवन्तिका और बहुत-से नगरों को विजय करने वाली विजया है तथा विभिन्न नगरों के नाम से कहे जाने वालेमंदेहों को दूर करने में अवश्य ही योग्य है।

व्याख्या—देवी की दृष्टि में विशालता, कल्याण, कमलों को लजाने वाली शोभा, कृपा की धारा, माधुर्य, भोग और सर्वरक्षा का भाव भरा हुआ है। उनकी विशाल दृष्टि प्रसिद्ध है, उसका कारण उनका उदार होना है। उनकी दृष्टि कल्याणमयी है, वह संसार में श्रेय सम्पादन करती है, इसीलिए उन्हें 'शिवा' कहा जाता है। सरस्वती रहस्य उपनिषत् में 'नीहारहारघनसारसुधा-कराभां कल्याणदां कनकचम्पकदामभूषाम्' कह कर भगवती की शोभा वर्णन करते हुए उन्हें 'कल्याण के देने वाली' कहा है।

भगवती को 'बहुनगरविस्तारविजया' कहने से यह अभिप्राय है कि भगवती अनेक नगरों को भी एक साथ ही जीत लेने में समर्थ हैं। इसका एक भाव यह भी है कि भगवती सर्व व्यापक हैं, वे सभी स्थानों में एक साथ समान रूप से विद्यमान रहती हैं। त्रिपुरोपनिषत् के अनुसार—

तिस्रः पुरस्त्रिपथा विश्वचर्षणा अत्राकथा अक्षराः सन्निविष्टाः।
अधिष्ठायैना अजरा पुराणी महत्तरा महिमा दवतानाम्॥

अर्थात्—जो भगवती अपनी अज्ञ दृष्टि द्वारा कल्पित व्यष्टि, समष्टि के भेद से युक्त स्थूल और सूक्ष्म कारण वाले तीन पुर हैं, एवं जो देवयान, पितृयान आदि के भेद से कर्मोपासना ज्ञान-काण्ड से ज्ञान, विज्ञान, सम्यक् ज्ञान के भेद से विकल्पित तीन मार्ग हैं, साथ ही 'अकथादि श्रीपीठ' इत्यादि श्रुति के अनुरोध से इस चक्र में जो 'अ' से 'क्ष' पर्यन्त के अक्षर सन्निविष्ट हैं। इन पुरों, इन मार्गों, इन अक्षरों को जीवेश प्रत्यक् पर आत्मा से

अधिष्ठित करके महा महिमामय अर्थात् सृष्टि निर्माण की सामर्थ्य रूपिणी स्थूल आदि जो तीन शरीर उनसे विलक्षण जराहीन महान् कोई चिरन्तन चित्शक्ति सर्वोत्कृष्टरूप से अधिष्ठित है, वही महत्तरा है।

इस प्रकार श्लोक में भगवती को सर्वश्रेष्ठ और सर्व समर्थ मानकर उपासना करने का साधक को निर्देश समझना चाहिए।

कवीनां संदर्भस्तवकमकरन्दैकरसिकं
कटाक्षव्याक्षेपभ्रमरकलभौ कर्णयुगलम्।
अमुञ्चन्तौ दृष्ट्वा तव नवरसास्वादतरला-
वसूयासंसर्गादलिक नयनं किंचिदरुणम् ॥९॥

टीका—कवियों की कवितारूपी स्तवक की मकरन्द के रसिकों के साथ रहने वाले तुम्हारे कटाक्ष और विक्षेप से युक्त, टेढ़ी दृष्टि से देखने वाले भौरों के समान और काव्य के नवरस का आस्वादन करने के लिए व्यग्र चपल नेत्रद्वय को देख कर मस्तक में स्थित तुम्हारा (तीसरा) नेत्र ईर्ष्या के ससर्ग से कुछ अरुण वर्ण का हो रहा है ॥९॥

व्याख्या—भगवती के कटाक्ष और विक्षेप को ही अपनी काव्य का विषय मानकर जो कविगण काव्य-सृजन करते हैं, उसमें नवरस का समावेश स्वयं ही होजाता है। भगवती के तीन नेत्र हैं, उनमें से दो नेत्र ही प्रत्यक्ष हैं, इसलिए कवियों द्वारा उन दो नेत्रों का ही गुणगान किया जाता है। मस्तक में स्थित तीसरा नेत्र अप्रत्यक्ष होने के कारण गुणगान से बच जाता है, इसीलिए उसका ईर्ष्या के कारण अरुणवर्ण का होना कहा है।

भाव यह है कि भगवती का तीसरा नेत्र ज्ञान का प्रतीक है। वह भौतिकवादी दृष्टिकोण का समर्थक नहीं है। इसीलिए तीसरे नेत्र का ईर्ष्याग्रस्त होना कहा है। सरस्वतीरहस्योपनिषत् में 'यः कवित्वं निरातंकं भुक्तिमुक्ती च वांछति' कह कर कवित्व भोग, आतंक-रहितता, भोग और मोक्ष की इच्छा वाले साधक को भगवती सरस्वती की उपासना का उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार श्लोक में भी वैसा ही निर्देश हुआ मानना चाहिए।

शिवे श्रृंगारार्द्रा तदितरजने कुत्सनपरा
सरोषा गंगायां गिरिशचरिते विस्मयवती।
हराहिभ्यो भीता सरसिरुह सोभाग्यजननी
सखोषु स्मेरा ते मयि जननि दृष्टिः सकरुणा ॥१०॥ 57

टीका—हे शिवे ! हे जननि ! तुम्हारी दृष्टि शिव के प्रति श्रृंगार से आर्द्र, इतरजनों के लिए उपेक्षामयी, गंगा के लिए क्रोधमयी, शिव-चरित्र के प्रति आश्चर्यमयी, शिव के सर्पों से भयमयी, कमलों की शोभा को जीतने वाली, सखियों के प्रति मुसकानभरी और मेरे प्रति करुणामयी है ॥॥

व्याख्या—श्लोक में श्रृंगार, वीभत्स, रौद्र, अद्‌भुत, भयानक, वीर, हास्य, करुणा और शान्त-इन नौ रसों की ओर संकेत है, जिनका समावेश भगवती की दृष्टि में स्वाभाविक रूप से है। इसका अभिप्राय यह भी है कि जो साधक जिस भाव से उन्हें देखता है, उसे उसी भाव की उनसे प्राप्ति होती है। क्योंकि भगवती कामरूपिणी,दुष्टों के लिए वीभत्स,रौद्र और भयकर प्रतीत होने वाली, विचित्र कर्म करने वाली होने से अद्‌भुत, 'पाशांकुशधनुर्बाणधरा' होने से वीर वेश वाली, 'सा नो मन्द्रे-

षमूर्जं दुहना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु' (देव्युपनिषत्) अर्थात् कामधेनु के समान सुखदायिनी, अन्न-बल प्रदायिनी देवी श्रेष्ठ स्तुतियों से प्रसन्न होने से हास्यमयी, भक्त पर करुणा-दृष्टि रखने वाली होने से करुणामयी और सब पर समान दृष्टि के कारण शान्त चित्त वाली हैं। इसलिए साधक अपने अनुकूल भाव का ध्यान करता हुआ ही भगवती की उपासना करे।

गते कर्णाभ्यर्णं गरुत इव पक्ष्माणि दधती
पुरां भेत्तश्चित्तप्रशमरस विद्रावण फले।
इमे नेत्रे गोत्राधरपतिकुलोत्तं सकलिके
तवाकर्णाकृष्टस्मरशरविलासं कलयतः ॥११॥

टीका—हे पर्वतपति के कुल की मुख्य कलिके ! बाणों के समान तुम्हारे यह दोनों नेत्र कानों पर्यन्त एवं पंखों के स्थान पर पलकों को धारण किये हुए हैं। उनमें पुरों का भेदन करने वाले (शिव) के चित्त को अशान्त करने वाले फल लगे हुए हैं, वे कान पर्यन्त तने हुए काम-बाणों जैसा कार्य करते हैं ॥११॥

व्याख्या—हिमालय के वंश की मुख्य कलिका के संबोधन से देवी की श्रेष्ठता व्यक्त की है। उनके दोनों नेत्रों को बाणों के समान कह कर संहृति की ओर संकेत किया है। क्योंकि भगवती विश्व-प्रपंच की सृष्टि, स्थिति और संहृति तीनों की ही करने वाली हैं। इस श्लोक में केवल संहार की ओर संकेत होने से यह भाव समझना चाहिए कि संसार और उसके भोग नाशवान हैं, मनुष्यों को उनका त्याग कर भगवती की शरण में जाना चाहिये तभी जन्म-मरण के चक्र से बचा जा सकता है। क्योंकि

भगवती दुराचार को तो नष्ट करती ही हैं, साथ ही साधक को संसार-सागर से भी पार करती है। देव्युपनिषत् के अनुसार—

तां दुर्गां दुर्गमां देवीं दुराचारविघातिनीम्।
नमामि भवभीतोऽहं संसारार्णवतारिणीम् ॥

अर्थात्—उन संसार-सागर से तारने वाली और दुराचार को नष्ट करने वाली देवी दुर्गा को मैं भवसागर से भयभीत हुआ पुरुष नमस्कार करता हूँ।

विभक्तत्रैवर्ण्यं व्यतिकरितलीलांजनतया
विभाति त्वन्नेत्रत्रितयमिदमीशानदयिते।
पुनः स्रष्टुं देवान्द्रुहिणहरिरुद्रानुपरतान्
रजः सत्त्वं बिभ्रत्तम इति गुणानां त्रयमिव ॥१२॥

टीका—हे शिव-प्रिये! तुम्हारे यह तीनों नेत्र तीन वर्ण के अंजन का प्रयोग करने से पृथक्-पृथक् तीन वर्ण के दिखाई देरहे हैं और प्रलयकाल में उपरत हुए ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र को सर्गकाल में पुनः उत्पन्न करने के उद्देश्य से रज, सत्व, तम रूप तीनों गुणों को धारण किये हुए-से लगते हैं ॥१२॥

व्याख्या—भगवती के तीन नेत्र हैं, इनमें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति का भाव भरा हुआ है। दो नेत्रों में संसार की सृष्टि और स्थिति है तथा तीसरे नेत्र में प्रलय स्थित है। इस प्रकार देवी के तीन नेत्रों के पृथक्-पृथक् तीन वर्णों की प्रतीति कल्पित की गई है।

देवी के तीन नेत्र चन्द्र, सूर्य और अग्न्यात्मक कहे जाते हैं। प्रथम दो नेत्र श्वेत और श्याम वर्ण के तथा तीसरा नेत्र आग्नेय

होने के कारण लालवर्ण का है। प्रलयकाल में जब सब कुछ ब्रह्म में लीन होजाता है, तब शक्ति ही अव्यक्त रूप से विद्यमान रहती है और पुनः सर्गोत्पत्ति-काल में क्रिया शक्ति होकर जगत् की रचना में लग जाती है। इसीलिए बहवृचोपनिषत् 'तस्या एव ब्रह्माऽजीजनत् विष्णुरजीजनत्, रुद्रोऽजीजनत्' इत्यादि कह कर ब्रह्म', विष्णु, रुद्र आदि सभी का प्रादुर्भाव उन्हीं भगवती से होना बताया है। इस प्रकार वही भगवती शक्ति रूपिणी होकर इच्छा शक्ति, क्रियाशक्ति और साक्षात् शक्ति साक्षात् शक्ति के रूप में प्रकट होती है (सी. उ.) यही श्लोक का मुख्य अभिप्राय है।

पवित्री कर्तुं नः पशुपतिपराधीनहृदये
दयामित्रै र्नेत्रै ररुणधवलश्यामरुचिभिः ।
नदः शोणो गंगा तपनतनयेति ध्रुवमयं
त्रयाणां तीर्थानामुपनयसि संभेदमनघम् ॥१३॥

टीका—हे पशुपति शिव की पराधीनता में रत हृदय वाली! अपने अरुण, श्वेत और श्याम वर्णों की शोभा वाले दयायुक्त नेत्रों से शोण, गंगा और यमुना इन तीनों तीर्थों के समान पवित्र करने के लिये ही तुम हमें पवित्र बना रही हो ॥१३॥

व्याख्या—भगवती स्वतन्त्र नहीं, परम शिवरूप ब्रह्म की इच्छानुसार चलने वाली है। इसीलिए उन्हें सीतोपनिषत् में 'श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदाधारकारिणी' अर्थात् 'श्रीराम के नित्य सान्निध्य में उनके वशीभूत रह कर विश्व के धारण करने वाली' कहा है।

उनके नेत्रों का अरुण, श्वेत और श्याम वर्ण कह कर उनकी दया-दृष्टि को तीन पवित्र नदियों से उपमित किया है। तीन नदियों के संगम जैसी पवित्रता का संकेत देकर ग्रन्थकार ने स्पष्ट कर दिया है कि उनकी दृष्टि से अधिक पवित्र और कुछ भी नहीं है। प्रयाग में यमुना-गंगा का संगम है, उनमें गंगा का वर्ण श्वेत और यमुना का श्याम अर्थात् नीला है। वहाँ यमुना को आत्मसात् करके बढ़ती हुई गंगा में काशी से आगे सोन नदी आ मिलती है। इस प्रकार भगवती के नेत्रों को इन तीन नदियों के समान बताकर उनकी दृष्टि को पवित्र करने वाली सिद्ध किया है।

इस प्रकार साधक को ब्राह्यपवित्रता की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी कि आन्तरिक पवित्रता की, जिसकी प्राप्ति भगवती की दया-दृष्टि से ही हो सकती है।

निमेषोन्मेषाभ्यां प्रलयमुदयं याति जगती
तवेत्याहुः सन्तो धरणिधर राजन्यतनये।
त्वदुन्मेषाज्जातं जगदिदमशेषं प्रलयतः
परित्रातुं शंके परिहृतनिमेषास्तव दृशः ॥१४॥

टीका—हे धरणिधर राजन्य-तनये ! (हिमालय सुते !) सन्तो का कथन है कि तुम्हारे निमेष से संसार का प्रलय और उन्मेष से उदय होजाता है। तुम्हारे उन्मेष (नेत्र खोलने से) ही प्रलय के अनन्तर यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है, जिसकी रक्षा के उद्देश्य से ही तुमने अपने नेत्रों का निमेष रोक रखा है, ऐसी शंका होती है ॥१४॥

व्याख्या—भगवती के नेत्र बन्द कर लेने मात्र से प्रलय और नेत्र खोलने मात्र से सृष्टि प्रकट होजाती है। सीतोपनिषत् में 'उदितानुदिताकारा निमेषोन्मेषसृष्टिस्थितिसंहारतिरोधानानुग्रहादि सर्वशक्तिसामर्थ्यात् साक्षाच्छक्तिरिति गीयते' अर्थात् 'भगवती उदित-अनुदित रूप वाली, निमेष-उन्मेष से सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह आदि की सामर्थ्य से युक्त एवं अविनाशिनी होने से साक्षात् शक्ति कहलाती है।

चौथे पद में 'रक्षा के लिए नेत्रों का निमेष रोक रखना' कहने से ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक युग के निश्चित स्थिति काल के अन्त में ही प्रलयकाल उपस्थित होता है। भगवती निश्चित अवधि से पूर्व प्रलय को रोके रखती हैं। अथवा साधक की इच्छा के अनुसार जब तक उसका भोग पूर्ण न हो तब तक उसका शरीरपात रुका रहता है। इस तथ्य की सिद्धि इससे होजाती है शास्त्रों में भगवती को भोग और मोक्ष दोनों के ही देने वाली कहा है। इच्छित भोगों का उपभोग करके साधक मोक्ष को प्राप्त होता है।

तवापर्णे कर्णे जपनयन पैशुन्यचकिता
निलीयन्ते तोये नियतमनिमेषाः शफरिकाः।
इयं च श्रीर्बद्धच्छदपुटकवाटं कुवलयं
जहाति प्रत्यूषे निशि च विघटय्य प्रविशति ॥१५॥

टीका—हे अपर्णे! निमेषहीन जो मछलियाँ जल में सदा छिपी रहती हैं, उन्हें भय रहता है कि कहीं तुम्हारे नयन ईर्ष्या के कारण तुम्हारे कानों से उनकी पिशुनता (चुगली) न कर बैठें। कपाटों के समान बन्द हो जाने वाले दल से युक्त कुमुदिनी

को यह श्री प्रातःकाल में छोड़कर चली जाती और रात्रिकाल में उन्हें खोलकर घुस आती है ॥१५॥

व्याख्या—जगत् के स्थिति-काल में देवी के नेत्र निमेषहीन होते हैं, अर्थात् झपकते नहीं, क्योंकि नेत्र झपकजाँय तो प्रलय होना निश्चित है और उन न झपकने वाले नेत्रों के दो प्रतिद्वन्दी हैं—(१) मछलियां और (२) कुमुदिनी अर्थात् चाँदनी। इनमें से मछली जल में छिपी रहती हैं और चाँदनी दिन में खिलती ही नहीं, इसीलिए दिन में लक्ष्मी का न रहना अर्थात् चाँदनी का श्रीहीन होना कहा गया है।

भगवती के नयनों में ईर्ष्या का कथन इस अभिप्राय से हो सकता है कि भगवती को सांसरिक भोगों के प्रति रोष रह सकता है, क्योंकि भगवती तो शिवा अर्थात् कल्याण कारिणी हैं और जीव का कल्याण सांसारिक भोगों में नहीं, वरन् ब्रह्म की प्राप्ति में ही है। इसलिए जीव को ब्रह्म-प्राप्ति के लिए ही चेष्टावान होना चाहिए।

दृशा द्राघीयस्या दरदलितनीलोत्पलरुचा
दवीयांसं दीनं स्नपय कृपया मामपि शिवे।
अनेनायं धन्यो भवति न च हानिरियता
वने वा हर्म्ये वा समकर निपातो हिमकरः ॥१६॥ 67

टीका—हे शिवे! किंचित् खिले हुए नीलकमल की शोभा से सम्पन्न अपनी दूरगामिनी दृष्टि में मुझ दीन को भी स्नान करा दो, जिससे कि यह धन्य होजाय, ऐसा करने में तुम्हारी किंचित् भी हानि नहीं है, क्योंकि चन्द्रमा की चाँदनी वन हो वा राजभवन, सर्वत्र समान रूप से ही पहुँचती है ॥१६॥

व्याख्या—भगवती की दृष्टि दूरगामिनी है। साधक कहीं भी क्यों न हो, उन्हें उसका ध्यान रहता है। इसीलिए मुमुक्षुजन उनकी उस अमृत वर्षा करने वाली दृष्टि के अमृत-रस में स्नान करने की आकांक्षा करता है। वह सोचता है कि उससे भगवती के सुधारस में तो कोई कमी आ नहीं सकती, वरन् उसकी एक बूँद भी मिल जाय तो वह स्वयं उससे कृतार्थ हो सकता है।

इसमें सरस्वती की उपासना का भी संकेत है, क्योंकि सरस्वती ही अपने कर्मरूप प्रवाह के द्वारा अगाध जलराशि को प्रकट करती और साधक की कर्त्तव्यात्मक बुद्धि का विकास करती हैं। इस प्रकार नदी स्वरूपा सरस्वती के पवित्र जल में स्नान करने से साधक पवित्र हो जाता है।

सरस्वती के अनेक रूप हैं 'अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वतिः' अर्थात् 'हे सरस्वते ! तुम माताओं में, नदियों में और देवियों में भी अत्यन्त श्रेष्ठ हो।' इससे सिद्ध हुआ कि देवी का दृष्टि रूप प्रवाह दूरगामी और पवित्र करने वाला है।

अरालं ते पालीयुगलमगराजन्यतनये
न केषामाधत्ते कुसुमशरकोदण्डकुतुकम्।
तिरश्चीनो यत्र श्रवणपथमुल्लंघ्य विलस-
न्नपांगव्यासंगो दिशति शरसंधानधिषणाम् ॥१७॥

टीका—हे राजन्यतनये ! तुम्हारी वक्र कनपटिद्वय पुष्पबाण के धारण करने वाले धनुष के कोणों का कौतूहल किसकी बुद्धि में नहीं करतीं ? जबकि श्रवणमार्ग का उल्लंघन करता हुआ तुम्हारा तिरछा कटाक्ष कनपटी का भी उल्लंघन करके कान

पर्यन्त संधान किये हुए बाण के समान दिखाई देता हुआ भ्रु व-द्वय के धनुष पर चढ़ा रहता है ॥१७॥

व्याख्या—इसमें रति और उपरति दोनों का ही संकेत है। कामदेव के अत्यन्त कोमल पुष्पबाण सभी प्राणियों को चलायमान कर देते हैं। संसार में ऐसा कौन है जो उनसे आहत न हुआ हो ? क्योंकि रतिक्रीड़ा के समान शास्त्र श्रवण का मार्ग अच्छा नहीं लगता और बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी अपने मार्ग से विचलित होजाते हैं।

परन्तु साधक को जब भगवती के तिरछे कटाक्ष रूप प्रकृति कोप का ध्यान आता है, तब उसकी बुद्धि ठिकाने पर आती है और तदनन्तर वह भोगों को नाशवान समझकर उनके त्याग में तत्पर होता है। तब भगवती उसे ज्ञानमार्ग पर आरूढ़ देखती हैं तो उसकी कठिन साधना को भी पुष्प के समान कोमल तथा सुखमयी बना देती हैं और यदि देखती हैं कि साधक का चित्त अभी भी चंचल है और वह ज्ञानमार्ग पर नहीं चल सकता तो उससे रुष्ट होजाती हैं।

स्फुरद्गण्डाभोग प्रतिफलितताटंकयुगलं
चतुश्चक्रं मन्ये तव मुखमिदं मन्मथरथम् ।
यमारुह्य द्रु ह्यत्यवनिरथमर्केन्दुचरणं
महावीरो मारः प्रमथपतये सज्जितवते ॥१८॥

टीका—तुम्हारे दमकते हुए कपोलों पर प्रतिबिम्बित दोनों कर्णफूलों से सम्पन्न तुम्हारा मुख कामदेव के चार पहियों वाले रथ के समान प्रतीत होता है, जिस पर आरूढ़ हुआ महावीर

कामदेव सूर्य-चन्द्र रूप दो पहियों के भूमि-रथ पर स्थित शिव के विरुद्ध युद्ध के लिए तत्पर है ॥१८॥

व्याख्या—इस श्लोक में भगवती के मुख को कामदेव के रथ से उपमित किया है। दोनों कानों में दो कर्णफूल लटक रहे हैं, जिनका प्रतिबिम्ब कपोलों पर दिखाई देता है। उधर शिव जिस रथ पर आरूढ़ हैं, उस पृथिवी रूपी रथ के सूर्य-चन्द्रमा रूप दो पहिये हैं, उन शिव से लड़ने के लिए कामदेव ने जो साहस किया उसका कारण भगवती का मुख रूप रथ ही है।

कामदेव भगवती का परम उपासक एवं आज्ञाकारी है, वह समाधि-रत शिव के मन को उमा की ओर प्रेरित करने के उद्देश्य से उनके समक्ष गया। उस समय वह भगवती के मुख-मण्डल के ध्यान रूपी रथ पर चढ़कर ही जाने का साहस कर सका था।

भगवती सब प्राणियों की आत्मा कहलाती हैं, वही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, कामदेव आदि की भी आत्मा हैं। इसीलिए वह 'कामकलेति विज्ञायते, शृंगारकलेति विज्ञायते' (बहवृच०) अर्थात् 'कामकला और श्रंगारकला के नाम से प्रसिद्ध हैं।

सरस्वत्याः सूक्तीरमृतलहरीकौशलहरीः
पिबन्त्याःशर्वाणि श्रवणचुलुकाभ्यामविरलम्।
चमत्कारश्लाघा चलितशिरसःकुण्डलगणो
झणत्कारैस्तारैः प्रतिवचनमाचष्ट इव ते ॥१९॥

टीका—हे शर्वाणि ! (शिवानी) अमृत की लहरी के कौशल को हरण करने वाली सरस्वती की श्रेष्ठ युक्ति को श्रवण रूपी

चुल्लुओं से अविरल पीते समय तुम्हारे कुण्डल चमत्कारोक्ति की श्लाघा की सूचना करते हुए सिर हिला कर क्षण-क्षण में झंकार करते हैं, मानों वे ओंकार के समान हुंकार से प्रतिवचन उत्तर देते हों ।१९।।

व्याख्या—शिव का एक नाम शर्व भी है, इसीलिए उमा को शर्वाणी कहा जाता है श्लोक में सरस्वती की श्रेष्ठ वाणी रूप युक्ति को अमृत की धारा से भी बढ़ कर बताते हुए यह सिद्ध किया है कि श्रेष्ठ वाणी के आगे अमृत की धारा का गुण भी व्यर्थ है। इस प्रकार वाणी का श्रेष्ठत्व स्पष्ट है। क्योंकि वह 'भक्तजिह्वाग्रसदना' (स. र. उ.) अर्थात् 'भक्तों की जिह्वा के अग्रभाग में निवास करने वाली कहलाती हैं।

सरस्वती का श्रेष्ठत्व इसलिए भी सिद्ध है कि वे ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कराने वाली हैं। सरस्वतीरहस्योपनिषत् में कहा है—

यां विदित्वाऽखिल बन्धं निर्मथ्याखिलवर्त्मना।
योगी याति परंस्थानं सा मां पातु सरस्वती ।।

अर्थात्—जिन सरस्वती को ब्रभविद्यारूप से जान लेने पर योगीजन सभी बन्धनों को काट डालते हैं, जिससे पूर्ण मार्ग के द्वारा उन्हें परमधाम की प्राप्ति होती है। वे देवी मेरी रक्षा करें।

असौ नासावंशस्तुहिनगिरिवंशध्वजपटि
त्वदीयो नेदीय:फलतु फलमस्माकमुचितम्।
वहन्नन्तर्मुक्ता: शिशिरतर निश्वासघटिता:
समृद्धया यत्तासां बहिरपि च मुक्तामणिधर:।।२०।।

टीका—हे तुहिनगिरिवंश की ध्वज-पताके! तुम्हारी नासिका का यह बाँसा हमारे लिए शीघ्र ही उचित फलदायक

हो क्योंकि उसमें तुम्हारे अत्यन्त शीतल निश्वासों से जो मुक्ता बन रहे हैं, उनकी वाम नासिका-गह्वर में ऐसी समृद्धि होरही है, कि उनमें से एक मुक्तामणियुक्त आभूषण बाहर भी दिखाई दे रहा है ॥२०॥

व्याख्या—हिमगिरिवंश की पताका से अभिप्राय कुल की श्रेष्ठ सन्तान तो है ही, साथ ही हिमालय पर उत्पन्न हुए बाँस पर लगी हुई ध्वजा-पताका से भी हो सकता है। क्योंकि वंश का अर्थ और कुल बाँस दोनों ही है। इसमें भगवती की नाक के बाँसे की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए नि:श्वास से निकलने वाले मोतियों का अभिप्राय ओस-कण रूपी मुक्ताओं से है। देवी का शीतल नि:श्वास भी हिम के समान है, जिससे निकले हुए कण मोतियों के समान जम जाते हैं। इसमें शीतल नि:श्वास का अभिप्राय परम शान्ति से ही हो सकता है। भगवती की नासिका और उसमें लटके हुए मुक्ता का ध्यान करने से जो शान्ति प्राप्त होती है, वह धीरे-धीरे साधक को मोक्ष की प्राप्ति में सहायक होती है।

मुक्ता: शब्द का अर्थ मुक्त होने से भी लगाया जा सकता है। उनकी शोभा का ध्यान करने वाला उपासक संसार से मुक्त होजाता है, यह अभिप्राय है।

प्रकृत्याऽऽरक्तायास्तव सुदति दन्तच्छदरुचेः
प्रवक्ष्ये सादृश्यं जनयतु फलं विद्रुमलता।
न बिम्बं तद्बिम्बप्रतिफलनरागादरुणितं
तुलामध्यारोढुं कथमिव न लज्जेत् कलया ॥२१॥

टीका—हे देवि ! तुम सुन्दर दाँतों वाली हो तुम्हारे सहज लाल रंग के ओष्ठों की शोभा के समान पदार्थ बताता हूँ, वह है

मूँगे की लता में फल यदि आजाय (जबकि मूँगे की लता में फल नहीं आता,) परन्तु बिम्बफल की समानता नहीं दी जा सकती, क्योंकि उनकी लाली तो तुम्हारे बिम्ब के प्रतिबिम्ब की लाली जैसी (फीकी) है। यदि उनसे तुम्हारे ओष्ठों की किसी प्रकार तुलना भी करें तो वे क्या तुम्हारे ओष्ठों के सौन्दर्य की एक कला के समान भी सुन्दर सिद्ध न होने से लज्जित नहीं हो जायगे ।।२१।।

व्याख्या—भगवती के दाँत सुन्दर हैं, उनके ओष्ठ की लाली इतनी अधिक है कि बिम्बफल की लाली भी उनके समक्ष अत्यतं फीकी है। यद्यपि भगवती को सर्वत्र बिम्बाधरा' ही कहा गया है, फिर भी इस श्लोक में उनके अधरों को बिम्बफल से भी अधिक लाल कहने का उद्देश्य उनके अनुपम सौन्दर्य को सिद्ध करना ही है। इसी अभिप्राय से शास्त्रों में भगवती को 'सौम्या' अर्थात् सौम्य रूप वाली कहा है।

सुन्दर दाँतों का रहस्य यह है कि भगवती के दाँत अशुभ कर्मों, विकारों और दुष्टों को चबा डालने में समर्थ और लोक-कल्याण में सहायक हैं। जो वस्तु लोक-हितार्थ उपयोगी है, वह श्रेष्ठ और सुन्दर होनी ही चाहिए। इसीलिए श्लोक में उन्हें सुन्दर दाँतों वाली कहा है।

स्मितज्योत्स्नाजालं तव वदनचन्द्रस्य पिबतां
चकोराणामासीदतिरसतया चंचुजडिमा ।
अतस्ते शीतांशोरमृतलहरीमाम्लरुचयः
पिबन्ति स्वच्छन्दंनिशिनिशि भृशंकांजिकधिया ।।२२।।

टीका—तुम्हारे चन्द्रमुख की मुसकान रूपी चाँदनी का प्रचुरता से रस पान करके अत्यधिक मधुर होने से चकोरों की

चंचु (चोंच) उस रसास्वादन से ही जड़ता को प्राप्त होगई है। अतएव वे अम्लरस के आकांक्षी चन्द्रामृत की लहरी को कांजी के समान खट्टी जान कर प्रत्येक रात्रि में पान करते रहते हैं ॥२२॥

व्याख्या—चन्द्रमा के समान मुख कह कर भगवती के मुख को अत्यन्त उज्वल एवं तेजोमय कहा है। उनके मुसकान में लोक कल्याण निहित है। शिवपुराण के अनुसार 'एका चन्द्र-सहस्रस्य वदने भाश्च नित्यशः' अर्थात् 'भगवती का अद्भुत मुख और पूर्णमासी के सहस्र चन्द्रमाओं के समान है।' उससे जो ज्ञानामृत की वर्षा होती है, उससे वासना-रत पुरुषों की जिह्वा का स्तंभित रह जाना स्वाभाविक ही है, क्योंकि भोगी मनुष्यों को ब्रह्मज्ञान रूपी अमृत कभी अच्छा नहीं लग सकता।

कांजी के समान खट्टा कहने का अभिप्राय सांसारिक-वार्ताओं से है। भोगी पुरुषों का मन उन्हीं वार्ताओं में लग सकता है, ब्रह्मगुण-कीर्तन में उनकी रुचि नहीं होती और कभी भूल से या परिस्थिति वश वे ब्रह्मगुणगान कर भी बैठें तो उनकी जिह्वा शीघ्र ही थक जाती है।

अविश्रान्तं पत्युर्गुणगणकथाऽऽम्रेडनजपा
जपापुष्पच्छाया तवजननि जिह्वाजयतिसा।
यदग्रासीनायाः स्फटिकदृषदच्छच्छविमयी
सरस्वत्या मूर्तिः परिणमति माणिक्यवपुषा ॥२३॥

टीका—हे जननि! अथकरूप से पति का गुण गाती रहने वाली तुम्हारी जपाकुसुम की प्रभा के समान उस जिह्वा की ही

जय है, जिसके अग्रभाग पर प्रतिष्ठित स्फटिक के समान स्वच्छ कान्तिवाली सरस्वती की मूर्ति की देहकान्ति बदल कर माणक्य के समान होगई है ॥२३॥

व्याख्या—यदि जिह्वा के अग्रभाग पर ब्रह्मविद्या स्वरूपिणी सरस्वती बैठ जाती है तो जिह्वा जगत्पति के गुणगान से कभी नहीं थक सकती। क्योंकि सरस्वती का स्वरूप ही वेदान्त का सारभूत ब्रह्मतत्व है और वही विभिन्न नाम रूपों में प्रकट होती हैं।

या वेदान्तार्थतत्वैक स्वरूपा परमेश्वरी।
नामरूपात्मना व्यक्ता सा मां पातु सरस्वती॥

—सरस्वतीरहस्योपनिषत् ७

सरस्वती मनुष्यों की ही नहीं, देवताओं की भी प्रेरणात्मक शक्ति है, वही अधिरूपिणी वाणीरूप से अन्तर में प्रतिष्ठित रहती हैं। उनके चार रूप हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, इनमें से प्रथम तीन तो हृदयगह्वर में रहने से प्रकट नहीं होती, किन्तु वैखरी ही बोलने में प्रयुक्त होती है। यथा—'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।' (स. र. उ.)

वेदों में सरस्वती को जीव के लिये स्वाभाविक दशा प्राप्त करने वाली बताया है—'यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे' इत्यादि (अथर्व) के अनुसार मेरा जो अंग इच्छित वस्तु के अभाव में व्यर्थ याचना के कारण व्याकुल होरहा है और मैं विक्षिप्त-सा हो गया हूँ, मेरे उस अंग को सरस्वती स्वाभाविक दशा की प्राप्ति करावें।

वाणी रूपिणी सरस्वती ब्रह्म का उपदेश करती है, इसलिए मुमुक्षुजनों के लिए वही अत्यन्त तेजोमयी है, वेद में भगवती स्वयं कहती हैं –

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम् ।
यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि त ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥

—अथर्व ४।६।३०।३

अर्थात्—मैं स्वयं आत्मरूपा हूँ। मैं इन्द्रादि देवता और मनुष्यों को भी प्रिय ब्रह्मात्मक वस्तु का उपदेश करती हूँ। मैं जिसकी रक्षा करना चाहती हूँ उसे सबल बनाती हूँ, मैं उसे ईश्वर, स्रष्टा और ऋषि बनाकर श्रेष्ठ बुद्धि से सम्पन्न करती हूँ।

रणे जित्वा दैत्यानपहृतशिरस्त्रैः कवचिभि-
र्निवृत्तैश्चण्डांश त्रिपुरहर निर्माल्य विमुखैः ।
विशाखेन्द्रोपेन्द्रैः शशिविशदकर्पूरशकला
विलीयन्ते मातस्तव वदन ताम्बूल कवलाः ॥२४॥

टीका—हे माता ! दैत्यों को युद्ध में हराकर उनसे छीने हुए शिरस्त्राण और कवचों को उतारने पर जो शिव के निर्माल्य से विपरीत चण्ड का अंश होता है, उसे स्कन्द, उपेन्द्र और इन्द्र यह तीनों ही तम्हारे मुख के ताम्बूल-ग्रास को, जो चन्द्रमा के समान स्वच्छ कर्पूर-खण्डों से युक्त है, ग्रहण कर लेते हैं ॥२४॥

व्याख्या—स्कन्द, उपेन्द्र और इन्द्र भगवती के शिशु हैं, वे दैत्यों से युद्ध करके लौटते हैं, तब भगवती उन्हें स्नेहवश अपने मुख में चबाये जाते हुए पान के टुकड़े प्रदान करती हैं। वे तीनों भी उन टुकड़ों को देवी की विजय-सूचक प्रसन्नता मान कर

ग्रहण करते हैं। चण्ड शिवजी क एक गण का नाम है, जो कि शिव का निर्माल्य ग्रहण करने का अधिकारी होता है। दैत्यों को पराजित करके जब तीनों बालक शिवजी के पास आते हैं तब शिवजी के पास निर्माल्य के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु उन्हें पुरस्कार स्वरूप देने के लिए नहीं होती और निर्माल्य को वे उन्हें दे नहीं सकते, तब मातृ-स्नेह का पुरस्कार ही उनके लिए सब कुछ होता है।

'ताम्बूलकवल' क्या है? ब्रह्मज्ञान का प्रदान। दैत्यरूप इन्द्रियों को जीतकर साधना में लगने वाले मुमुक्षु को सर्वश्रेष्ठ और सब से उज्वल ब्रह्मज्ञान ही तो देती है। तीनों शिशु पुरुष के तीन आश्रमों के परिचायक हैं—ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास, इन तीनों में ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति संभव होती है।

विपंच्या गायन्ती विविधमपदानं पशुपते-
स्त्वयाऽऽरब्धे वक्तुं चलितशिरसा साधुवचने।
तदीयैर्माधुर्यैरपलपिततन्त्रीकलरवां
निजां वीणां वाणीनिचुलयतिचोलेननिभृतम् ॥२५॥

टीका—पशुपति शिव के विविध अपदानों का वीणा पर गान करते समय, तुम्हारे द्वारा शीश हिला कर सरस्वती की श्लाघा के हेतु वीणा के कलरव को भी फीका करने वाले वचनों का आरम्भ किये जाने पर, सरस्वती अपनी वीणा को ही आवरण में लपेट कर रख देती है।

व्याख्या—सरस्वती अपनी वीणा पर शिव के गुणों का गान करती हैं, यह देखकर शिवा उनकी निन्दा करने लगती हैं, तब सरस्वती अपनी वीणा को ही वस्त्र में लपेट कर रख देती हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि भगवती की वाणी में मधुरता है, जिसके सामने वीणा के स्वर भी फीके पड़ जाते हैं ।

पशुपति शब्द की व्याख्या करते हुए शिवपुराण में कहा गया है कि 'अजड़ जीव और जड़ प्रकृति का नियन्ता ब्रह्म ही है, उसके क्रमशः तीन नाम हैं—पशु, पाश और पति, यह तीनों क्षर, अक्षर और क्षराक्षर से परे कहलाते हैं । अक्षर पशु है, वही जीव है, ब्रह्मज्ञान से पाश-प्रकृति क्षरण होने के कारण इसे 'क्षर' कहते हैं तथा जो क्षराक्षर से परे है, वह पति कहा जाता है ।

क्षर प्रकृति और अक्षर पुरुष है, माया ही प्रकृति अथवा क्षर है और पुरुष उसी माया से आवृत्त है । मल और कर्म के प्रेरक शिव ही हैं । सरस्वती के वीणा-वादन स्वरूप कर्म को माया संज्ञक प्रकृति आवृत्त कर लेती है शिवपुराण में कथन है–

माया माहेश्वरी शक्तिश्चिद्रूपो माययावृतः ।
मलश्चिच्छादको नैजो विशुद्धिः शिव ा स्वतः ।।

अर्थात्—माया शिव की शक्ति है,शिव-स्वरूप माया से ढका हुआ है और मल चित्स्वरूप को आवृत्त करने वाला अर्थात् ढकने वाला है, वह मल स्वकल्पित है तथा शिव स्वरूप उस मल से रहित विशुद्ध है ।

श्लोक का एक भाव यह भी है कि सरस्वती की वीणा से निकलने वाले लौकिक स्वर, जिनमें अध्यात्म भाव अर्थात् ब्रह्म का गुणानुवाद न हो, व्यर्थ हैं । अनेक गायन ऐसे होते हैं, जिनमें शिव का गुणानुवाद भी उन शृंगारमय शब्दों में होता है, जिनसे भ्रान्त हुआ मनुष्य सांसरिक भोगों को ओर दौड़ने लगता है । परन्तु ब्रह्मविद्या स्वरूपिणी शिवा उन शृंगारमय शब्दों की

भर्त्सना करती हुई, जिज्ञासु को परमज्ञान की ओर प्रेरित करती है, तब जिज्ञासु पुरुष उन वासनामय स्वरों पर आवरण डाल कर, उनका तिरस्कार करके ब्रह्म के ही यथार्थ गुणगान में प्रवृत्त होता है।

एक अन्य भाव के अनुसार सरस्वती की वीणा के स्वर वासना और भगवती द्वारा की जाने वाली श्लाघा प्राण स्वरूप है। वासना के क्षीण होने पर प्राण का लय ब्रह्म में होजाता है, यथा 'यन्मनो विलयं याति तद्विष्णोर्परमं पदम्' और योगवासिष्ठ के अनुसार—

द्वे बीजे चित्त वृक्षस्य प्राणस्पन्दन वासने ।
एकस्मिश्च तयो:क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपिनश्यत: ।।

अर्थात्—चित्त रूपी वृक्ष के दो बीज हैं—एक प्राण और दूसरा वासना। इन दोनों में से एक के क्षीण होने पर दूसरा भी वैसा ही हो जाता है।

कराग्रेण स्पृष्टं तुहिनगिरिणा वत्सलतया
गिरीशेनोदस्तं मुहुरधरपानाकुलतया ।
करग्राह्यं शम्भोर्मुखमुकुरवृन्तं गिरिसुते
कथंकारं ब्रूमस्तव चिबुकमौपम्यरहितम् ।।२६।।

टीका — हे पर्वतपुत्रि ! तुम्हारी उपमा-रहित उस चिबुक का वर्णन किस प्रकार किया जाय, जिसका स्पर्श (तुम्हारे पिता) हिमालय ने अपनी वात्सल्यमयी अँगुलियों से किया और अधर पान की आकुलता में बार-बार उठाया है। वह चिबुक शिवजी के हाथ में मुख देखने के उद्देश्य से उठाये गये दर्पण के समान है ।।२६।।

व्याख्या—भगवती की चिबुक (ठोड़ी) अत्यन्त सुन्दर है, उसके समान कोई अन्य वस्तु है ही नहीं जिसकी उमा दी जा सके। प्रकृति देवी का अंग-अंग अनुपम है शिवपुराण के अनुसार ब्रह्म ने अपने ही शरीर से जिस शक्ति प्रधान प्रकृति को प्रकट किया और 'सा शक्तिरम्बिका प्रोक्ता प्रकृतिः सकलेश्वरी' (शि. पु.) अर्थात् 'वही शक्ति अम्बिका, प्रकृति और सर्व लोकेश्वरी कही जाती है।' उस मूर्ति की कल्पना में जो जगत् की रचना की इच्छा निहित है, उसे क्रियारूप देने के लिए शक्ति को प्रकट करके सबल बनाना ही उसके प्रति अपना वात्सल्यभाव प्रकट करना है।

यहाँ चिबुक (ठोड़ी) का स्पर्श जगत् की रचना के लिए प्रेरण ही समझना चाहिए, क्योंकि वेद में 'द्यौरुत्तारहनुः पृथिव्य धर हनुः' (अथर्व) कह कर उत्तर ठोड़ी के रूप में द्यौ और नीचे की ठोड़ी के रूप में पृथिवी कही गई है।

दर्पण के समान कहने का अभिप्राय शक्ति को निर्मल एवं स्वच्छ बताना है। शिवपुराण में इसीलिए प्रकृति को 'अचिन्त्य तेजसा युक्ता सर्वयोनिः समुद्यता' कहकर अचिन्त्य तेज वाली और सब की जन्मदात्री कहा है। यही भगवती का दर्पण के समान स्वच्छ रूप समझना चाहिए।

भुजाश्लेषान्नित्यं पुरदमयितुः कण्टकवती
तव ग्रीवा धत्ते मुखकमलनालश्रियमियम्।
स्वतः श्वेता कालागरुबहुलजम्बालमलिना
मृणालीलालित्यं वहति यदधो हारलतिका ॥२७॥

टीका—पुरों का दमन करने वाले शिव की भुजाओं के नित्य प्रति स्पर्श से तुम्हारी जो ग्रीवा खुरदरी-सी होरही है तथा

तुम्हारे मुखकमल को धारण करने वाली कमलनाल कान्तिमयी प्रतीत होरही है, वह गौरवर्ण होती हुई भी अगरु के प्रगाढ़ प्रलेप से पंक में लिप्त हुई जैसी मलीन दिखाई देती है, जिसके नीचे ही तुमने हार धारण किया हुआ है ॥२७॥

व्याख्या—शिवजी ने त्रिपुरासुर का वध किया था, इसलिए उनका नाम त्रिपुरारि या पुरारि पड़ा। उसी त्रिपुरासुर के तीन पुरों को नष्ट करने का जहाँ उल्लेख है। उन शिवजी का स्थान ब्रह्मरन्ध्र में है और मुख को धारण करने वाली कमलनाल से अभिप्राय सुषुम्ना से ही हो सकता है। उसमें जो कुण्डलिनी शक्ति है वह अत्यन्त कान्तिमयी है। सुषुम्ना नाड़ी संज्ञक पश्चिम मार्ग कहा जाता है, उसमें रक्त रूपी जो पंक है, उसमें लिप्त हुई कुण्डलिनी मूलाधार चक्र में बन्द रही आती है। और जाग्रत् होने पर यही कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना के भीतर विद्युत्-रेखा के समान चढ़ती है। इस प्रकार शिव-स्थान तक पहुँचने के विषय में पहले प्रकाश डाल चुके हैं।

गले रेखास्तिस्रो गतिगमकगीतैकनिपुणे
विवाहव्यानद्ध प्रगुणगुण संख्या प्रतिभुवः।
विराजन्ते नानाविधमधुररागाकरभुवां
त्रयाणां ग्रामाणां स्थितिनियमसीमान इवते ॥२८॥

टीका—हे गति-गमक-गीतनिपुणे ! तुम्हारे कण्ठ में स्थित तीन रेखाएँ, विवाहोत्सव में बाँधी गये सौभाग्य सूत्र की तीन लड़ियों से बन कर ऐसी प्रतीत होती हैं, जैसे कि वे अनेक प्रकार के मधुर रागों के तीन ग्राम पर गान करने से उनकी नियम सीमा के चिह्न रूप में स्थित होगए हों ॥२८॥

व्याख्या—'गति' शब्द का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में हो सकता है। गति के तीन अर्थ हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति, गमक और गीत में भी ज्ञान निहित है। इस प्रकार श्लोक में भगवती को ज्ञान में निपुण अर्थात् परम ज्ञानमयी कहने का अभिप्राय है।

राग के तीन अंग होते हैं—गति, गमक और गीत। गति अर्थ गीत की चाल और गमक का अर्थ आरोह-अवरोह है। तीनों सप्तकों के स्वरों का क्रम-बद्ध होना ही गीत है। गीत के तीन ग्राम होते हैं—षडज, मध्यम और गान्धार। गायक जिस ग्राम पर राग का आरम्भ करे उसी ग्राम पर उसको समाप्ति होगी। इस प्रकार प्राचीन काल में तीन ग्रामों से गीत गाने का उल्लेख मिलता है जबकि वर्तमान गीत-पद्धति के अनुसार षडज ग्राम ही गीतों में व्यवहृत होता है।

भगवती तीनों ग्रामों पर गीत गाने में निपुण हैं, इसलिए उनके कण्ठ की तीनों रेखाएँ स्वरों की पृथक्-पृथक् नियत सीमा का निर्धारण सूचित करती हैं। त्रिपुरोपनिषत् में भगवती की तीन रेखाओं का लोक की तीन अवस्थाओं से सादृश्य स्थापित किया है—

यास्तिस्रो रेखाः सदनानि भुस्त्रीस्त्रिविष्टपास्त्रिगुणास्त्रि प्रक्ताराः। एतत्त्रयं पूरकं पूरकाणां मन्त्र प्रतते मदनो मदन्या।

अर्थात्—यह तीन रेखाएँ जड़-क्रिया, ज्ञान और इच्छाशक्ति स्वरूप हैं, यही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के स्थान हैं। लोचन कण्ठ और हृदय सहस्रार चक्र हैं तथा भूः भुव स्वः तीन लोक हैं तथा तमादि गुण और प्रत्येक गुण के तमादि भेद से तीन प्रकार के हैं। वे सब जिसके आश्रय में स्थित हैं, वह इन सबके पूरक

प्रधान देव आदि विद्या, प्रदंग देवता, मन्त्र प्रतत (श्री चक्र) मध्य त्रिकोण रूप कामिनी जो चिद् शक्ति और उसके साथ रहने वाले विन्दुरूपी कामेश्वर प्रमुखरूप से विद्यमान हैं।

'प्रकृतित्वं ततः स्पृष्टं सत्त्वादिगुणसाम्यतः' (स. र. उ.) के अनुसार प्रकृति की रचना सत्व, रज, तम तीनों गुणों की समानता से हुई है। इन तीन गुणों के प्रतीक रूप में यह तीनों रेखाएँ हो सकती हैं। सृ धातु से गति या प्रसारण शब्द बनता है पाश्चात्य वैज्ञानिक भी मानते हैं कि Ether at rest is darkness, ether in motion is light' इस प्रकार गति से ही प्रकाश रहता है। जहाँ गति का अवरोध हुआ वहीं अन्धकार और संकोच होने पर ज्ञान और विद्या का अभाव होजाता है इसीलिए संगीत में भी, लय में गति अत्यन्त आवश्यक है। भगवती सरस्वती के हाथ में वीणा का होना संगीत का प्रतीक है, इससे समझना चाहिए कि भगवती ही संगीत की प्रवृत्तिका एवं परम निपुणा हैं, क्योंकि प्रवर्त्तन करने वाले से अधिक निपुण और कौन हो सकता है।

मृणाली मृद्वीनां तव भुजलतानांचतसृणां
चतुर्भिः सौन्दर्यं सरसिजभवःस्तौति वदनैः।
नखेभ्यः संत्रस्यन्प्रथममथनादन्धकरिपो-
श्चतुर्णां शीर्षाणां सममभयहस्तार्पणधिया ॥२९॥ 70

टीका—शिव के नखों से अपने (पाँचवें शिर के) मर्दन किये जाने की स्मृति त्रास को प्राप्त हुए ब्रह्मा अपने चारों शिरों की समान रूप से रक्षा की अभिलाषा से तुम्हारे अभयप्रद हाथ की शरण में अर्पण बुद्धि रखते हुए अपने चारों मुखों से तुम्हारी

कमलनाल जैसी सुकोमल चारों भुजाओं की स्तुति करते रहते हैं ॥२९॥

व्याख्या—ब्रह्मा के पाँच शिर प्रसिद्ध हैं। शिवजी ने ब्रह्मा-जी के पाँचवें मुख को नष्ट कर दिया था 'यो ब्रह्माणः पंचमवक्त्र हन्ता तस्मै रुद्राय नमो अस्तु' (शरभोपनिषत्) अर्थात् 'जिन्होंने ब्रह्मा का पाँचवाँ मुख नष्ट कर दिया उन रुद्र को नमस्कार है।' इस प्रकार ब्रह्मा का पाँचवाँ मुख नष्ट होगया तब उन्हें अपने शेष चार मुखों की चिन्ता हुई कि कहीं वे भी इसी प्रकार न काट लिये जाँय, इसीलिए ब्रह्मा ने भगवती की शरण में जाना उचित समझा और तब से उनके अभयदाता हाथों को अपनी रक्षा के लिए प्राप्त करने के उद्देश्य से भगवती की स्तुति करते रहते हैं। क्योंकि रुद्र के क्रोध को भगवती ही शान्त कर सकती हैं।

इस प्रकार श्लोक में शिव की उपासना के साथ ही शिवा की उपासना का भी उपदेश निहित है। साधक को शिव शिवा की उपासना करके अपना कल्याणसाधन करना चाहिए।

नखानामुद्योतैः नवनलिनरागं विहसतां
कराणां ते कान्ति कथय कथयामः कथमुमे।
कयाचिद्वा साम्यं भवतु कलया हन्त कमलं
यदि क्रीडल्लक्ष्मीचरणतललाक्षाऽरुणदलम् ॥३०॥

टीका—हे उमे! मैं तुम्हारे हाथों की कान्ति का वर्णन किस प्रकार से करूँ? जिनके नखों की कान्ति नवविकसित कमल की भी अरुणिमा की हँसी उड़ाती है। यदि किसी प्रकार से उस अरुणिमा की आंशिक समानता करूँ भी तो वह क्रीडा करते हुए

लक्ष्मी के चरण तल में लग जाने वाली लाक्षा के समान ही हो सकती है ॥३०॥

व्याख्या—भगवती हाथों और नखों का सौंदर्य अनुपम है। यदि उन्हें कमल की उपमा दें तो वह भी नहीं बनती, क्योंकि नखों की आभा के समक्ष कमल की अरुण आभा भी फीकी होती है। लक्ष्मीजी के चरणतल भी अत्यन्त सुन्दर हैं, परन्तु क्रीडा करने के कारण जो लाक्षा उनके चरणों से छूट जाती है, उससे उनके चरणों के नीचे खिले हुए कमल भी मैले होजाते हैं।

इसका अन्य भाव यह भी है कि लक्ष्मीजी के चरणों में जो लाक्षायुक्त राग लगा है, उसी के स्पर्श से कमलों में अरुणिमा आगई है, इससे यह समझना चाहिए कि कमलों से लाली अस्वाभाविक है और भगवती के नखों की लाली स्वाभाविक है।

इस प्रकार भगवती के हाथों को कमल की आभा से भी सुन्दर आभा वाले मान कर, उनके वरदहस्त की आकांक्षा करनी चाहिए।

समं देवि स्कन्दद्विपवदनपीतं स्तनयुगं
तवेदं नः खेदं हरतु सततं प्रस्नुतमुखम्।
यदालोक्याशंकाऽऽकुलित हृदयो हासजनकः
स्वकुम्भौ हेरम्ब.परिमृशति हस्तेन झटिति ॥३१॥

टीका—हे देवि! स्कन्द और गणेश द्वारा पान किये गए तुम्हारे स्तनद्वय हमारे खेद को सदा हरण करते रहें। जिनके मुख से दुग्ध टपक रहा है, उन स्तनों को पान करते समय शंकाकुल हृदय वाले गणेशजी अपने ही शीश के कुम्भ के समान भाग

को झट से टटोलते हुए हास्योत्पादक चेष्टा करने लगते हैं ॥३१॥

व्याख्या––शिव-पार्वती के दो पुत्र हैं स्कन्द और गणेश। गणेश को अपने कुम्भ के समान उठे हुए मस्तक में और माता के स्तन में कोई भेद न जान पड़ा तो वे दुग्ध की संभावना से अपने मस्तक को ही दाब कर देखने लगे। उनकी इस हास्यप्रद चेष्टा को देखकर माता को भी हँसी आगई।

श्लोक में भगवती स्तनों को खेद-हरण करने वाला कहा है, जिसका अभिप्राय यह है कि भगवती के स्तन सर्व कामनाओं और पुष्टियों के प्रदान करने वाले हैं। यथा—

यस्ते स्तनः शशयुर्यो मयोभूर्यः सुम्नयुः सुहवो यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः॥

—ऋक्० ७।१।१०

अर्थात्—हे सरस्वती! तुम्हारा स्तन शक्तिदायक, सुखदायक, पुष्टिदायक, मन को पवित्र करने वाला और प्रार्थना के योग्य है, उसे हमें भी प्रदान कीजिए।

अमू ते वक्षोजावमृतरसमाणिक्यकलशौ
न संदेहस्पन्दो नगपतिपताके मनसि नः।
पिवन्तौ तौ यस्मादविदितवधूसंगमरसौ
कुमारावद्यापि द्विरदवदन क्रौञ्चदलनौ ॥३२॥

टीका—हे नगपतिपताके! तुम्हारे अमृतरस से परिपूर्ण माणिक्य-निर्मित कलशों के समान स्तनों को देखकर मन में

संदेह का स्पन्दन नहीं होता, क्योंकि उनका दूध पीने से स्कन्द और गणेश दोनों ही अब तक भी रति-प्रसंग से अनभिज्ञ और कुमार ही बने हुए हैं ।।३२।।

व्याख्या—भगवती के स्तन अमृत रस से परिपूर्ण हैं, उनके द्वारा सम्पूर्ण विश्व का भरण-पोषण होता है । सरस्वती रहस्योपनिषत् में भगवती को दुग्ध रूप में सम्पूर्ण भोगों का प्रदान करने वाली कहा है—

यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा ।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम ॥

अर्थात्—जिन वाणी स्वरूपा देवी का प्रकट, अप्रकट वाणी वाले देवादि सम्पूर्ण जीव उच्चारण करते हैं और जो भगवती सभी पदार्थों को दुग्ध रूप में प्रदान करने वाली कामधेनु हैं, वे मेरी रक्षा करें ।

भगवती के पुत्र स्कन्द और गणेश हैं । स्कन्द देवसेना के नायक रूप से शक्ति के और गणेश बुद्धि के देवता होने से विद्या के प्रतीक हैं । इस प्रकार भगवती प्राणियों की शक्ति और बुद्धि दोनों को पुष्ट करती हैं । परन्तु अज्ञानियों के लिए उन दोनों से ही वंचित रहना पड़ता है । श्लोक में विवाहित दम्पति के रति-क्रीड़ा से अनभिज्ञ रहने का जो संकेत है उसका तात्पर्य रति-क्रीड़ा के अनियमित प्रयोग से है । इसमें उपदेश यह है कि दाम्पत्यजीवन में संयम की आवश्यकता है । रति-क्रीड़ा के अज्ञान से गृहस्थ जीवन सुखमय नहीं रह सकता । असंयम और उच्छृंखलता से गृह-कलह बढ़ सकती है, जबकि रति-क्रीड़ा का उचित उपयोग दाम्पत्य सुख की वृद्धि करने वाला होता है ।

दूसरा भाव यह है कि माता का वात्सल्य भाव बालकों को उच्छृंखल होने से बचाता है। उनमें अनैतिकता का समावेश नहीं होपाता और वे विवाह होने पर भी रति-प्रसंग से अनभिज्ञ ही बने रहते हैं। उनमें स्त्री-जाति के प्रति तब तक मातृ-भाव ही रहा आता है, जब तक काम-वासना की अधिकता न हो। और भगवती उनकी रस वासना को अनियन्त्रित होने से रोकती हैं। क्योंकि वासना का अनियन्त्रित होना ही दुःख, रोग और कलह का उत्पन्न करने वाला है।

इसीलिए मुमुक्षुओं को वासना पर नियन्त्रण रखने का निर्देश है। जिसने वासनाओं को जीत लिया, जो रति-क्रीड़ा को भूलकर भगवती की शरण में जा पहुँचा वही साधक अत्यन्त तेजस्विता को प्राप्त होगया। 'दिव्य देहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धोऽप्यरोगवान्' (सौ. ल. उ.) अर्थात् 'वह साधक तेजस्वी दिव्य शरीर वाला, दिव्य गन्ध से युक्त और निरोग होजाता है।'

इस प्रकार श्लोक में वासनाओं पर नियन्त्रण रखने की ओर संकेत है, और वैसा करने पर ही मनुष्य को बल-बुद्धि की प्राप्ति हो सकती है।

बहत्यम्ब स्तम्बेरम दनुजकुम्भ प्रकृतिभिः
समारब्धां मुक्तामणिभिरमलां हारलतिकाम्।
कुचाभागो बिम्बाधररुचिभिरन्तः शबलितां
प्रतापव्यामिश्रां पुरदमयितुः कीर्तिमिव ते ॥३३॥

टीका—हे अम्बे ! तुम्हारा जो कुचभाग गजासुर के शीश रूपी कुम्भ से निर्गत मुक्तामणियों के निर्मल हार से सुशोभित है, उस पर तुम्हारे बिम्ब जैसे अधरों की प्रभा पड़ने से अरुण

छाया दिखाई देती है, अतएव वह हार शिव के प्रताप से युक्त कीर्ति का प्रतीक ही है ।।३३।।

व्याख्या—शिव ने हाथी रूप वाले गजासुर को मारा था, उसके मस्तक से जो मुक्तामणियाँ निकली थीं, उनकी माला बना कर भगवती ने अपने कण्ठ में धारण करली। वह माला उनके स्तनभाग तक स्थित है। उस माला पर भगवती के अधरों की प्रभा का जो बिम्ब पड़ता है, उससे वह और भी सुन्दर लगने लगती है। उस माला की वह सुन्दरता भी शिव के प्रताप की ही सूचना देती है। इससे यह संकेत मिलता है कि शिव शिवा में कोई भेद नहीं। जो शिव हैं, वही शिवा हैं। जो मुक्ताहार भगवती के कण्ठ में पड़ा है वही शिव के कण्ठ में भी है।' 'मुक्ताहार विभूषणं शशिकला भास्वत्किरीटोज्ज्वलम्' (द० मू० उ) अर्थात् 'जो मुक्ताओं के हार से विभूषित तथा चन्द्रमा की कला में चमकने वाले मुकुट से अधिक शोभायमान हो रहे हैं।'

शिवा और शिव का भेद कल्पित है, अर्द्धनारीश्वर शिव का रहस्य भी यही है। 'ततः पूर्णचिदीशस्य मूर्तिमाविश्य कामदाम्' (शि० पु०) अर्थात् 'उन चिद्रूप ईश्वर ने अपनी कामप्रदायिनी मूर्ति में प्रवेश किया' जिससे कि वे आधे पुरुष और आधे स्त्री के रूप में होगए। इसी की पुष्टि शरभोपनिषत् के निम्न कथन से होती है—

सत्यो नित्यः सर्वसाक्षी महेशो नित्यानन्दो निर्विकल्पो निराख्यः।
अचिन्त्यशक्तिर्भगवान्गिरीशः स्वाविद्यया कल्पितमानभूमिः ॥

अर्थात्—वे महेश्वर सत्य, नित्य, सर्वसाक्षी, नित्य आनन्द रूप, निर्विकल्प और कथन न कर सकने योग्य है। उनकी शक्ति

की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता, हम उनके स्थान आदि की कल्पना अज्ञान से ही करते हैं।

इस प्रकार जो शिव की कीर्ति है, वही शिवा की कीर्ति है। इसलिए साधक को शिव-शिवा में कोई भेद न मान कर एक मात्र शिवरूप ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिए। उसी से परम मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। 'एक एव शिवो नित्यस्ततोऽन्यत्सकलं मृषा' (श० उ०) अर्थात् 'एकमात्र शिव ही नित्य हैं और अन्य सब मिथ्या है।'

तव स्तन्यं मन्ये धरणिधरकन्ये हृदयतः
पयः पारावारः परिवहति सारस्वतमिव।
दयावत्या दत्तं द्रविडशिशुरस्वाद्य तव यत्
कवीनां प्रौढानामजनिकमनीयः कवयिता ॥३४॥

टीका—हे धरणिधर-कन्ये! मैं मानता हूँ कि तुम्हारे दूध का पारावार तुम्हारे हृदय से प्रवाहित होने वाले सारस्वतज्ञान के समान है, जिसका पान तुम्हारे दयावती होकर दूध पिलाने पर द्रविड़शिशु ने किया और तब उसने प्रौढ़ कवियों के समान कमनीय कविता रची थी ॥३४॥

व्याख्या—भगवती के हृदय से सारस्वत ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान की धारा प्रवाहित होती है, वही मुमुक्षुजनों के लिए दूध के समान है। इसमें द्रविड़ शिशु नामक कवि द्वारा भगवती का ब्रह्मज्ञान रूप दुग्ध-पान करके प्रौढ़ कवियों के समान कविता रचना कहा है। कुछ लोगों का मत है कि द्रविड़शिशु कोई और नहीं, स्वयं शंकर भगवत्पाद ही थे। जिनके पिता ने किसी कार्य-वश बाहर जाते समय भगवती के पूजन का कार्य उनके लिए सौंपा था। भगवत्पाद ने भगवती की पूजा की और उन्हें दूध

न पीती देख कर रोते हुये कहने लगे कि 'मुझसे ऐसा क्या अपराध हुआ है जो आप दूध नहीं पीतीं, उस अपराध को क्षमा कीजिए।' भगवत्पाद के भोलेपन और हार्दिक भावना से प्रसन्न हुई भगवती ने प्रत्यक्ष होकर उस दूध को पीलिया और भगवत्पाद को अपने स्तनों का दूध पिलाया तब भगवती के प्रसाद से वे श्रेष्ठ काव्यमय स्तुति करने लगे।

सारस्वत ज्ञान की प्राप्ति के विषय में ऋषियों ने महर्षि आश्वलायन से प्रश्न किया कि 'कथं सारस्वतप्राप्तिः केन ध्यानेन सुव्रत' (स. र. उ.) अर्थात् 'हे सुव्रत। आपको, सारस्वत मन्त्र की उपलब्धि किस ध्यान से, किस प्रकार हुई ? इस पर महर्षि ने उनका ध्यान बताते हुए कहा—

नीहारहारघनसारसुधाकराभां
कल्याणदाँ कनकचम्पकदामभूषाम्।
उत्तुंगपीनकुचकुम्भमनोहरांगी
वाणीं नमानि मनसा बचसां विभूत्यै॥

अर्थात्—हिम, कर्पूर, मुक्ता या चन्द्रप्रभा के समान शुभ-कान्तिवाली, स्वर्ण-सदृश्य पीत चम्पक के पुष्पों की माला से अलंकृत, कल्याणदायिनी, उन्नत सुपुष्ट कुचकुम्भ के सहित मनोहर अंग वाली भगवती वागेश्वरी को मन-वाणी द्वारा विभूति की सिद्धि के लिए नमस्कार है।

इसमें भी स्तनों का वर्णन पुष्टि प्रदान के रूप में ही है। क्योंकि 'चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि' इत्यादि के तात्पर्य रूप में वे भगवती इच्छित पदार्थों को दुग्ध रूप में प्रदान करने वाली कामधेनु है।

हरक्रोधज्वालाऽवलिभिरवलीढेन वपुषा
गभीरे ते नाभीसरसि कृतसंगो मनसिजः ।
समुत्तस्थौ तस्मादचलतनये धूमलतिका
जनस्तां जानीते तव जननि रोमावलिरीति ॥३५॥

टीका—हे हिमाचलतनये ! जब शिव की क्रोध-ज्वालाओं से लिपटे हुए देह वाले कामदेव ने तुम्हारी गंभीर सरोवर के समान नाभि में गोता लगाया, तब उससे धुँए की लता जैसी जो रेखा बन गई, उसे हे माता ! सब लोग तुम्हारी नाभि से उत्पन्न रोमावलि ही मानते हैं ॥३५॥

व्याख्या—साधक के मन में काम-विचार उत्पन्न होजाय, तब यदि ज्ञानरूपी तीसरे नेत्र के स्थान स्वरूप भौंओं के मध्य में शिव का ध्यान किया जाय तो काम का वह ताप नाभिचक्र में पहुँच कर शान्त हो सकता है। वह ताप जब नाभिकुण्ड में पहुँच कर बुझता है तब उससे धुँए के समान रोमांच की लता ऊपर उठती हुई साधक की वासना को शान्त कर ती है।

श्लोक में रज-विन्दु के संगम का संकेत भी है। योगचूडा-मन्युपनिषत् में रज का स्थान सूर्य और शुक्र का स्थान चन्द्रमा कहा है। सूर्य रूपी तेज और चन्द्ररूपी अमृत के संयोग से परम शान्ति होती है, परन्तु इन दोनों का संयोग अत्यन्त दुर्लभ है बिन्दु ब्रह्म और रज शक्ति है और—

वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं च यथा रजः ।
याति बिन्दुः सदैकत्वं भवेद्दिव्यवपुस्तदा ॥

अर्थात्—जब वायु द्वारा चालित हुआ रज विन्दु से मिलकर एक होजाता है, तब देह दिव्य होजाता है।

इस प्रकार रज और विन्दु के संयोग का जो उपदेश योगी के लिये मिलता है, उसमें चन्द्रामृत रूप रज और सूर्यताप रूप विन्दु को स्वयं में आत्मसात कर लेने से ही मुद्रा की सिद्धि होती है। क्योंकि चन्द्र-सूर्य के संचालन और रस के शोषण से ही नाडी जाल का शोधन होता है, उसी से महामुद्रा का अभ्यास सम्भव है। उस महामुद्रा से सभी प्रकार की व्याधियाँ नष्ट होकर शरीर अत्यन्त तेजोमय और दिव्य होजाता है। तब 'समाधौ परमं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम्' इत्यादि (यो. चू. उ.) अर्थात् 'समाधि होने पर जो परमज्योति अनन्त और विश्वतोमुख का भाव होता है, उससे क्रिया, कर्म और आवागमन से भी छुटकारा होजाता है।'

गायत्रीरहस्योपनिषत् में नाभिरग्निः' कह कर भगवती गायत्री की नाभि को अग्नि माना है। नाभिमूल में जो मणिपूर चक्र है उसके अग्नि बीज का प्रतिपाद्य देवता अग्नि ही है। इस चक्र के अधिपतिदेव भस्मधारी रुद्र हैं। इसीलिए वहाँ शिव के क्रोध रूपी ज्वाला का निवास होना कहा जा सकता है। उस ज्वाला का उदरस्थ रसों से संयोग जो विद्युत्-रेखाओं को प्रकट करने में समर्थ होता है, वे रेखाएँ मानों भगवती की रोमावलि हैं, श्लोक का यह अभिप्राय भी अमान्य नहीं हो सकता।

अग्नि के साथ जल का संयोग होने पर जल सूखने लगता है—'उद्योधन्त्यभि वल्गन्ति तप्ताः फेनमस्यन्ति बहुलांश्च बिन्दून्' (अथर्व १२।३।३।२९) अर्थात् 'ताप देने पर यह जल शब्द करते हुए तथा फेन और बूँदों को उड़ाते हुए युद्ध-सा करते हैं।'

यदेतत्कालिन्दीतनुतर तरंगाकृति शिवे
कृशेमध्येकिंचिज्जननितवतद्भातिसुधियाम् ।
विमर्दादन्योऽन्यं कुचकलशयोरन्तरगतं
तनुभूतं व्योम प्रविशदिव नाभिं कुहरिणीम् ॥३६॥

टीका—हे शिवे ! तुम्हारी कालिन्दी की क्षीण तरग जैसी आकृति वालो जो (रोमावली) तुम्हारे पतले कटिभाग में कुछ कुछ दिखाई देती है, वह बुद्धिमानों को तुम्हारे कुच-कलशों के मध्य परस्पर की रगड़ से मर्दित होने से पतला हुआ आकाश तुम्हारी नाभि में सर्पिणी के समान प्रवेश करता हुआ प्रतीत होता है ॥३६॥

व्याख्या—पंच महाभूतों की उत्पत्ति में आकाश से वायु की, वायु से अग्नि, की अग्नि से जल और जल से पृथिवी की उत्पत्ति होती है । फिर पाँच महाभूतों के परस्पर मिलने से पंचीकरण होता है, उसके अनुसार प्रत्येक तत्व का आधा भाग दूसरे तत्वों के आधे भाग में मिलता है । इस प्रकार मूलाधार चक्र में पृथिवी तत्व के आधे भाग के साथ अन्य चारों तत्वों का अर्द्ध चौथाई अंश रहता है । स्वाधिष्ठान चक्र में जल का आधा भाग और अन्य तत्वों का अर्द्ध चौथाई मणिपूर चक्र में अग्नि तत्व का अर्द्ध भाग और अन्य तत्वों का अर्द्ध चौथाई, मणिपूर चक्र में वायु का अर्द्ध भाग और अन्य तत्वों का अर्द्ध चौथाई और विशुद्ध चक्र में आकाश तत्व का अर्द्ध भाग और अन्य तत्वों का अर्द्ध चौथाई भाग होता है । इससे स्पष्ट है कि विशुद्ध चक्र में जो आकाश है, उसका नीचे के सभी चक्रों से सम्बन्ध रहता है और जब विशुद्ध चक्र में आकाश का भेदन होजाय तभी यह सम्भव

है कि नीचे के सब चक्रों में भी उसका भेदन हो जाय। उस आकाश तत्व के भेदन से यह उपमित किया प्रतीत होता है कि भगवती के स्तनों की परस्पर रगड़ लगने से पिसकर पतला होता हुआ आकाश भगवती की नाभि की ओर खिसक रहा है। इस प्रकार आकाश तत्व के भेदन करने में समर्थ योगी बुद्धिमान माना जाता है, क्योंकि उन्हें अमृतपद की प्राप्ति होती है— 'समाधिमेकेन सममसृतं यान्ति योगिनः' (यो. कु. उ.)

कालिन्दी अर्थात् यमुना की उपमा से भगवती की रोमावलि को उपमित किया गया है। यमुना का जल श्याम वर्ण का होता है और उनकी पतली धार भगवती की रोमावलि के समान कही गई है। यमुना को रविजा भी कहते हैं, क्योंकि वह सूर्य की पुत्री है और आकाश रूपी रोमावलि का सूर्यस्थान से नीचे नाभि में उतरने का संकेत चक्रवेध का ही भाव प्रकट करता है।

स्थिरो गंगाऽऽवर्तं स्तनमुकुल रोमावलिलता-
निजावालं कुण्डं कुसुमशर तेजोहुतभुजः।
रतेर्लीलाऽगारं किमपि तव नाभिर्गिरिसुते
बिलद्वारं सिद्धे: गिरिशनयनानां विजयते ॥३७॥

टीका—हे पर्वतराजपुत्रिके! तुम्हारी नाभि की जय हो जो कि गंगा के स्थिर भँवर या तुम्हारे स्तनरूपी खिले हुए पुष्पों को धारण करने वाली रोमावलि रूपी लता की उत्पत्ति का स्थान अथवा कामरूपी अग्नि को धारण करने वाली यज्ञ वेदी के समान है। वह रति क्रीडा का स्थान अथवा शिव के नेत्रों को सिद्धि प्राप्त कराने में सहायक तपस्या के लिए गुहा का द्वार भी हो सकती है ॥३७॥

व्याख्या—भगवती की नाभि को उनके स्तनों का आधार कह कर सब जगत् का आधार स्वीकार किया गया है। क्योंकि भगवती के स्तन ही विश्व का पोषण करने वाले हैं। नाभि से ही लता रूप रोमावलि की उत्पत्ति कह कर उसके रूप में वनस्पति आदि का उत्पन्न होने का संकेत किया है। कामरूपी अग्नि को धारण करने वाली यज्ञवेदी बताकर उन्हें संसार की योनि सिद्ध किया है। क्योंकि योनि स्थान में स्थित चक्र को कामरूप माना जाता है—'योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते' (यो. चू. उ.) अथवा नाभि में स्थित मणिपूर चक्र अग्नि का स्थान है, वहीं परम ज्योति के दर्शन होते हैं— 'समाधौ परमं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम्' (यो. चू. उ.) अर्थात् 'वहाँ समाधि में विश्वतोमुख अनन्त परम ज्योति दिखाई देती है।' और 'तस्मिन्दृष्टे महायोग यातायातो न विद्यते' अर्थात् 'उसके दर्शन होने पर आवागमन से छुटकारा होजाता है।'

निसर्गक्षीणस्य स्तनतटभरेण क्लमजुषो
नमन्मूर्तेर्नाभौ वलिषु च शनैस्त्रुट्यत इव।
चिरं ते मध्यस्य त्रुटिततटनीतीरतरुणा
समावस्थास्थेम्नो भवतु कुशलं शैलतनये ॥३८॥ 79

टीका—हे शैलसुते! तुम्हारे मध्यभाग की समावस्था सदा बनी रहे, क्योंकि वह स्वाभाविक रूप से ही कृश है। तुम्हारे स्तन रूपी तट के भार से क्लान्त होने के कारण तुम्हारी झुकी हुई मूर्ति के नाभिदेश पर बनती हुई वलियों पर धीरे-धीरे नदी तट के वृक्ष के समान वह भाग कुछ टूटा हुआ-सा दिखाई देता है ॥३८॥

व्याख्या—इस श्लोक में स्तनों का अत्यन्त स्थूल और कटि का अत्यधिक पतला होना बताया है। यह वर्णन स्त्रियों के सौंन्दर्य की प्रशस्ति तो है ही, साथ ही यह भाव भी है कि तीनों लोकों का भरण-पोषण करने वाले स्तनों का अत्यन्त स्थूल होना स्वाभाविक ही है। भंडार जितना अधिक भरा होगा, उतना ही अधिक धन-दान किया जा सकेगा। जिस गाय का थन जितना भारी और मोटा होगा, वह उतना ही अधिक दूध देगी, उतनी ही अधिक पुष्टि प्रदान करेगी। इसीलिए साधकगण गायों से पुष्टि प्रदान करने की प्रार्थना किया करते हैं। यथा—

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो वृहद्वा वय उच्यते सभासु।।
—ऋक् ६।३।२८।६

अर्थात्—हे गौओ ! हमें पुष्ट करो। हमारे कृश और रोगी शरीर को सुन्दर बनाओ। तुम कल्याणमय शब्द वाली हो, हमारे घर को कल्याणकारी करो। हे गौओ ! यज्ञ मण्डप में तुम्हारा महान अन्न ही यश प्राप्त करता है।

कुचौ सद्यः स्विद्यतटघटितकूर्पासभिदुरौ
कषन्तौ दोर्मूले कनककलशाभौ कलयता।
तव त्रातुं भंगादलमिति वलग्नं तनुभुवा
त्रिधानद्धं देवि त्रिवलिलवलीवल्लिभिरिव ।।३९।।

टीका—हे देवि ! काँखों की रगड़ से जो पसीना आता है, उनके तट स्थान पर तुम्हारी चोली फट गई है और स्वर्ण-कलश की कान्ति वाले तुम्हारे दोनों स्तनों के हिलने से उसके बन्द टूट

सकते हैं, परन्तु उन्हें टूटने से बचाने मात्र के लिए किंचित् जुड़े हुए वे बन्द मानों कामदेव ने तुम्हारे कटि प्रदेश में लवली वल्ली के समान तीन बार बाँधे हुए हैं ॥३९॥

व्याख्या—वक्षस्थल के अत्यधिक भारी और कटि भाग के अत्यन्त पतला होने से ही चोली के बन्द टूटने की संभावना हो सकती है, परन्तु उसकी रक्षा के लिए ही मानों कामदेव ने उसे लवली की बेल से तीन फन्दे देकर बाँध दिया है। इस शृंगार-मयी उक्ति में यह भाव छिपा है कि अज्ञानियों के लिए भगवती की जो मूर्ति कल्पित की गई है, उसकी चोली के बन्द अज्ञानी साधक की वासना के कारण टूटते हुए से दिखाई देते हैं, परन्तु यथार्थ में टूटते नहीं। यदि टूट जाते तो उस साधक को भगवती के स्तन-पान रूपी ज्ञानामृत की प्राप्ति होजाती। किन्तु, काम-विकार का जो आवरण चोली के रूप में पड़ा है, वह फन्दों के रूप में इतना कस कर बाँधा गया है कि टूटता-सा प्रतीत होकर भी नहीं टूट पाता। इसका अभिप्राय है कि काम-वासना ज्ञाना-मृत के पान में बाधक है, इसलिए मुमुक्षु साधक को उसका त्याग करना ही श्रेयस्कर हो सकता है। इसीलिए त्रिपुरोपनिषत् में अशक्तों के लिए ध्यान कहा है—

यद्वा मण्डलाद्वा स्तनबिम्बमेकं मुखं चाधस्त्रीणि गुहासदनानि।
कामीकलां कामरूपां चिकित्वा नरोजायते कामरूपश्च काम्य: ॥

अर्थात्—सूर्य, चन्द्र के मण्डल से उत्पन्न स्तनबिम्ब, एक मुख नीचे की ओर, इस प्रकार उपलक्षित सर्वांग सुन्दरी को देहत्रय रूपी गुहा में स्थित परमात्मा की कला कामरूप चिद्शक्ति का ध्यान करके मनुष्य अपनी कामना को पूर्ण करता हुआ स्वेच्छानुसार कामरूप होजाता है, किन्तु काम्यफल जन्मादि का कारण

होता है, इसीलिए मोक्ष की आकांक्षा वाले पुरुषों को काम्योपासना नहीं करनी चाहिए।

गुरुत्वं विस्तारं क्षितिधरपतिः पार्वति निजात्
नितम्बादाच्छिद्य त्वयि हरणरूपेण निदधे।
अतस्ते विस्तीर्णो गुरुरयमशेषां वसुमतीं
नितम्ब प्राग्भारः स्थगयति लघुत्वंनयति च ॥४०॥

टीका—हे पार्वति ! धरणीधर पर्वतराज ने अपने नितम्बों को काटकर अपना गुरुत्व और विस्तार तुम्हें दहेज के उपहार स्वरूप प्रदान किये थे, इसीलिए तुम्हारे नितम्बों में इतना गुरुत्व और विस्तार प्रतीत होता है कि उससे सम्पूर्ण पृथिवी की गति अवरुद्ध हो गई और पृथिवी का विस्तार भी तुम्हारे विस्तार में कम दिखाई देता है ॥४०॥

व्याख्या—प्रकृति का इतना अधिक भार और विस्तार है कि पृथिवी की गति और स्थिरता सभी कुछ उस पर निर्भर है। पृथिवी प्रकृति का ही एक अंग है, जिसकी वृद्धि के लिए पर्वत ने अपने नितम्ब काट कर भगवती को दहेज में दे दिये। अर्थात् पर्वत के अनेक ऊँचे-ऊँचे शिखर ढह गये जिनसे नीचे खाई, गड्ढे आदि भर कर भूमि समतल होगई। इस प्रकार पृथिवी को श्रीवृद्धि में पर्वतों का भी बहुत अधिक सहयोग है

इसका अन्य भाव यह भी हो सकता है कि विभिन्न स्थानों पर पर्वतों के होने से, उनके गुरुत्व के कारण ही पृथिवी टिकी हुई है। उसका हिलना-डुलना रोकने में पर्वतों का सहायक होना माना जा सकता है। पृथिवी का एक धुरी

पर घूमना मानकर उसकी गति का नियन्त्रित रहना भी पर्वतों के गुरुत्व के कारण ही अधिक संभव है।

करीन्द्राणां शुण्डान् कनककदलीकाण्डपटली-
मुभाभ्यामुरुभ्यामुभयमपि निर्जित्य भवती ।
सुवृत्ताभ्यां पत्युः प्रणतिकठिनाभ्यां गिरिसुते
विजिग्ये जानुभ्यां विबुधकरिकुम्भद्वयमपि ॥४१॥

टीका—हे गिरिसुते ! तुम अपने दोनों उरुओं से गजराजों की सूँडों को और स्वर्णनिर्मित दीर्घकाय कदली-स्तम्भों को विजय करके अपने पति के समक्ष प्रणाम निवेदन करने के लिए झुकने के कारण कठोर हुईं अपनी दोनों गोल जानुओं से बुद्धि-मान हाथी के सिर के कुम्भों को भी जीत रही हैं ॥४१॥

व्याख्या—भगवती के महान बल-पराक्रम के समक्ष बड़े-बड़े गजराजों का पराक्रम भी अत्यन्त तुच्छ है। वे अपने हाथों से क्या, इच्छा मात्र से ही उन्हें वश में कर सकती हैं। उनके बल के सामने ठोस स्वर्ण के बनाए हुए केले के रूप में खड़े हुए खम्भे भी बात की बात में झुक जाते हैं। वे ही भगवती अपने पति शिवजी नित्य प्रति प्रणाम निवेदन करने के लिए घुटनों के बल बैठ जाती हैं, इसका कारण उनके वे घुटने ऐसे कठोर होगए हैं कि हाथी के सिर के उठे हुए कलश जैसे अवयव भी उनके सामने कुछ नहीं।

इस श्लोक में भगवती के बल, पराक्रम और शौर्य की ओर स्पष्ट संकेत है। उनके घुटनों की कठोरता दैत्यों का वध करने में सहायक होती है। भगवती के इसी शौर्य को प्रकट करने के उद्देश्य से ग्रन्थकार ने उक्त प्रकार से उसका वर्णन किया प्रतीत होता है।

पराजेतुं रुद्रं द्विगुणशरगर्भौ गिरिसुते
निषंगौ जंघे ते विषमविशिखो वाढमकृत ।
यदग्रे दृश्यन्ते दशशरफलाः पादयुगली-
नखाग्रच्छद्मानः सुरमुकुटशाणैकनिशिताः ॥४२॥

टीका—हे गिरिसुते ! तुम्हारी जंघाएँ रुद्र को पराजित करने के लिए द्विगुणित बाणों से परिपूर्ण कामदेव के दो तरकसों जैसी हैं, उनके दश अग्रफल चरणों की दश अँगुलियों के नखों के अग्रभाग स्वरूप दिखाई देते हैं। मानों बाणों के वे अग्रफल देवताओं के मुकुटरूपी शाण (धार धरने के पत्थर) पर घिसकर पैनाये गये हों ॥४२॥

व्याख्या—भगवती की जंघाओं को कामदेव के दो तरकसों से उपमित करके यह भाव व्यक्त किया है कि कामदेव के पास तो एक ही तरकस है, जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध संज्ञक पाँच बाण हैं। उन्हीं को लेकर उसने शिवजी पर आक्रमण किया था, इसीलिए यह पराजित होगया। परन्तु भगवती की जंघाओं के रूप में जो दो तरकस हैं, उनमें दस अंगुलियों के रूप में दस बाण हैं। इस प्रकार कामदेव के बाणों से दुगुने बाण होना कह कर यह प्रदर्शित किया है कि भगवती अपने पति शिव के मन को भी वश में किये हुए हैं। क्योंकि 'विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी'(यो.द.)अर्थात्'विषय वाली प्रवृत्ति उत्पन्न होकर मन की स्थिति को बाँधने वाली होती है।'

भगवती के चरणों को देवगण श्रद्धा से अपने शिर पर धारण किया करते हैं अथवा प्रणाम करते समय अपने मुकुटों से युक्त शिरों से भगवती के चरण स्पर्श करते रहते हैं। यहां

उनके मुकुटों का धार रखने वाली सान से उपमित करके भग-
वती की अत्युत्कृष्टता व्यक्त की गई है।

श्रुतीनां मूर्धानो दधति तव यौ शेखरतया
समाप्येतौ मातः शिरसि दयया धेहि चरणौ ।
ययोः पाद्यं पाथः पशुपतिजटाजूट तटिनी
ययोर्लाक्षालक्ष्मीररुण हरि चूड़ामणिरुचि ॥४३॥

टीका—हे माता ! तुम्हारे जो चरण श्रुतियों की मूर्धा पर शिखर के समान रखे हैं, उन्हें दया पूर्वक मेरे मस्तक पर भी रख दीजिए। उन चरणों का जल शिवजी के जटाजूट से निर्गत गंगा है तथा उनके तलवों में लगीं लाक्षा की प्रभा विष्णु के केशों में लगी हुई मणि की प्रभा के समान है ॥४३॥

व्याख्या—श्रुतियों की मूर्धा पर भगवती के चरण रखे होने का अभिप्राय यह है कि श्रुतियों में जहाँ-जहाँ जिन उपसनाओं का उल्लेख मिलता है वहाँ वहाँ उन सभी उपासनओं में भगवती के ही चरण कमलों का उद्देश्य निहित है। दूसरा भाव यह भी है कि आत्मा का जो सर्वांगीण ज्ञान मिल सकता है, उसका हेतु ब्रह्म विद्या है, उसी को सारस्वत विद्या भी कहते हैं और वही भगवती का सरस्वती स्वरूप है। 'स ब्रह्मविद्यां सर्व विद्या प्रतिष्ठाम्' (मुण्डकोपनिषत्) अर्थात् 'सम्पूर्ण विद्याओं में ब्रह्मविद्या ही श्रेष्ठ है।' इस प्रकार 'श्रुतीनां मूर्धानो दधति' इत्यादि का यही तात्पर्य समझना चाहिए कि श्रुतियों का प्राकट्य भगवती की स्तुति और प्रशंसा के लिये ही हुआ है और किसी भी मुमुक्षु द्वारा यह इच्छा व्यक्त करना कि भगवती के वे चरण मेरे भी सिर पर रखे जाँय तो मैं धन्य होजाऊँ, उचित ही है।

'ययो पाद्यं पाथः' इत्यादि कह कर ग्रन्थकार ने गंगाजी को भगवती के चरणों से प्रकट होकर शिव के जटाजूट में होकर निकलना कह कर भगवती का विष्णु रूप होना सिद्ध किया है। पुराणों के अनुसार गंगा का उद्भव भगवान् विष्णु के चरणों से हुआ है जब कि इस श्लोक में भगवती के चरणों से होना बताया है। तो यहाँ शंका होती है कि जब गंगा की उत्पत्ति विष्णु के चरणों से हुई है, तब शंकर भगवत्पाद ने उन्हें भगवती का चरणोदक कैसे कह दिया ?

उक्त शंका का समाधान रुद्रहृदयोपनिषद की निम्न पंक्तियाँ स्वयं ही कर देती हैं—

वाम पार्श्वे उमादेवी विष्णुः सोमोऽपि ते त्रयः।
या उमा सा स्वयं विष्णुर्योविष्णुःस हि चन्द्रमाः ॥
ये नमस्यन्ति गोविन्दं ते नमस्यन्ति शंकरम्।
येऽर्चयन्ति हरिं भक्त्या तेऽर्चयन्ति वृषभध्वजम् ॥

अर्थात्—(रुद्र के) वाम पार्श्व में उमा, विष्णु और सोम यह तीनों स्थित हैं, इनमें कोई भेद नहीं है। क्योंकि जो उमा हैं, और जो विष्णु हैं वही सोम हैं। जो गोविन्द को नमस्कार करते हैं, उनका नमस्कार भगवान् वृषभध्वज को स्वयं ही पहुँच जाता है।

इससे आगे विष्णु के स्वरूप को और भी स्पष्ट कर दिया गया है, यथा—

रुद्रात् प्रवर्तते बीजं बीजयोनिर्जनार्दनः।
यो रुद्रःस स्वयं ब्रह्म यो ब्रह्मा स हुताशनः ॥

ब्रह्मविष्णुमयो रुद्र अग्निषोमात्मकं जगत् ।
पुल्लिगं सर्वमीशानं स्त्रीलिंग भवत्युमा ॥

—रु. हृ. उ. ७-८

अर्थात्—रुद्र ही बीज के उत्पन्न कर्त्ता और विष्णु ही बीज की योनि है, जो रुद्र हैं, वही ब्रह्मा हैं और जो ब्रह्मा हैं, वही अग्नि हैं। इस प्रकार रुद्र ही ब्रह्मा, विष्णु रूप है और यह अग्नि और सोम से सम्बन्धित विश्व भी रुद्र ही हैं। सृष्टि में जितने भी पुलिंग रूपात्मक प्राणी हैं वे सभी रुद्र तथा स्त्रीलिंगात्मक सभी प्राणी उमा हैं।

'श्रुतीनां सर्वस्वं' इत्यादि (गंगा लहरी) में भी पंडितराज जगन्नाथ ने भगवती गंगा को श्रुतियों को सर्वस्व कह कर 'श्रुतीनां मूर्धानो' इत्यादि की ही पुष्टि की है। गायत्रीरहस्योपनिषद् ने तो वेदों को गायत्री स्वरूपा भगवती के चार चरण स्पष्ट रूप से ही कह दिया है—

'ऋग्वेदोऽस्याः प्रथमः पादो भवति । यजुर्वेदो द्वितीयः पादः । सामवेदस्तृतीयः पादः । अथर्ववेदश्चतुर्थः पादः ।' अर्थात् 'ऋग्वेद इसका प्रथम पाद है। यजुर्वेद दूसरा, सामवेद तीसरा और अथर्ववेद चौथा पाद है।'

सावित्र्युपनिषद् में गायत्री मन्त्र को ही भगवती सावित्री के चरण माने हैं—'तस्या एष प्रथमः पादो भूस्तत्सवितुर्वरेण्यमित्यग्निर्वै वरेण्यमापो वरेण्यं चन्द्रमा वरेण्यम् । तस्या एष द्वितीयः पादो भर्गमयो भुवो भर्गो देवस्य धीमहीत्यग्निर्वै भर्ग आदित्यो वै भर्गश्चन्द्रमा वै भर्गः । तस्या एष तृतीयः पादः स्वर्धियो यो नः प्रचोदयादिति स्त्री चैव पुरुषश्च प्रजयनतः ॥'

अर्थात्—सावित्री का प्रथम पाद 'भूः–तत्सवितुर्वरेण्यम्' है। है। अग्नि, जल और चन्द्रमा देवता ही वरेण्य हैं। सावित्री का द्वितीय पाद है—'भुवः—भर्गो देवस्य धीमहि' वह तेजोमय है। अग्नि, सूर्य और चन्द्र ही भर्ग तेज हैं। सावित्री का तृतीय पाद है—'धियो यो नःप्रचोदयात्।' इस सावित्री को जो स्त्री-पुरुष जान लेते हैं वे पुनर्जन्म धारण नहीं करते अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।

इस प्रकार श्रुतियों को भगवती के पाद रूप बताने से भी भगवती का ही श्रेष्ठत्व एवं उपास्य होना सिद्ध होता है।

नमो वाकं ब्रूमो नयनरमणीयाय पदयो-
स्तवास्मै द्वन्द्वाय स्फुटरुचिरसालक्तकवते।
असूयत्यत्यन्तं यदभिहननाय स्पृहयते
पशूनामीशानः प्रमदवनकंकेलितरवे ॥४४॥ 85

टीका—नयनों के लिये रमणीय लगने वाले तुम्हारे उन दोनों चरणों को हम नमस्कार करते हैं, जिन पर लाक्षा की उत्कट कान्ति दमकती है तथा जिनके अभिहनन की स्पृहा के कारण पशुओं के नाथ शिवजी तुम्हारे प्रमदवन के वृक्ष (अशोक) से अत्यन्त असूया रखते हैं ॥४४॥

व्याख्या—श्लोक के अनुसार भगवती के उद्यान में खड़े अशोक वृक्ष को भगवती से चरण-स्पर्श का नित्य सौभाग्य प्राप्त है, परन्तु पशुपति को वैसा सौभाग्य प्राप्त न होने से वे उस वृक्ष से ईर्ष्याभाव रखते हैं और इसीलिए उन्हें भी भगवती चरण-प्रहार की स्पृहा रहती है।

पुराणों के अनुसार पशुपति की इस इच्छा को महाकाली ने पूर्ण कर दिया। वे लेटे हुए महाकाल की छाती पर खड़ी होकर अट्टहास करती है। इसका रहस्य समझने के लिए कुछ अध्ययन, कुछ विकार की आवश्यकता होती है।

संसार की तीन स्थितियाँ प्रसिद्ध हैं—सृष्टि अर्थात् सृजन, स्थिति अर्थात् पालन और संहार अर्थात् ध्वंस। इनमें सृजन एक सनातन प्रक्रिया है, वही स्थिति और ध्वंस के लिए हेतु होती है, ध्वंज एक आपत्धर्म है, जो कि स्थिति के पश्चात् होना अवश्यंभावी है। जब सृजन होना होता है, तब ध्वंस को थक कर लेट जाना होता है और सृजन पर भार आ पड़ता है दुगुने कार्य का अर्थात् स्वभाविक सृष्टि की रचनात्मक प्रक्रिया से संचालन का और ध्वंस के कारण हुई क्षति की विशेष रूप से पूर्ति का। इस प्रकार दुगुनी उपयोगिता के कारण ध्वंस के देवता महाकाल के महत्व की अपेक्षा सृजन की देवी महाकाली का महत्व बहुत बढ़ जाता है। क्योंकि शिव निद्रामग्न हैं और शक्ति जाग्रत्, इससे शिव का महत्व कम और शक्ति का महत्व अधिक होजाता है और उसकी गति का पूजन में संसार के सभी जीव अपना अहोभाग्य मानते हैं।

भगवती ब्रह्मस्वरूपिणी हैं, वे ज्ञातव्य ब्रह्म भी हैं और ब्रह्म से परे भी हैं। वे स्वयं कहती हैं कि 'मत्तः प्रकृति पुरुषात्मकं जगच्छून्यं चाशून्यं च' अर्थात् 'यह कार्य-कारणरूप प्रकृति-पुरुषात्मक विश्व मुझसे ही उत्पन्न हुआ है।' आगे चल कर भगवती का ही कथन है कि 'अहं राष्ट्री संगमनी वसूनामहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्' (दे. उ.) अर्थात् 'मैं ही सम्पूर्ण विश्व की अधीश्वरी हूँ और पितारूप आकाश को ब्रह्म की मूर्धा पर मैं ही प्रकट करती हूँ।' वह आकाश क्या है? 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्

यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः' (ब. वृ, उ.) अर्थात् उस परम आकाश में सम्पूर्ण ऋचाएँ और देवता अधिष्ठित रहते हैं। उस आकाश का ब्रह्म के मस्तक पर स्थापित किया जाना श्लोक के भाव को पुष्ट करता है।

आकाश का ब्रह्म की मूर्धा पर स्थापित करने वाली क्रिया चक्र-वेध में भी स्पष्ट रूप से मिलती है। सौभाग्यलक्ष्मीउपनिषद् में 'ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाणचक्रं तत्र सूचिकागृहेतरं धूम्रशिखाऽऽकारं ध्यायेत् तत्र जालंधरपीठं मोक्षप्रदं भवतीति परब्रह्म चक्रम्। नवममाकाशचक्रं तत्रषोडशदल पद्ममूर्ध्वमुखं तन्मध्यकर्णिकात्रिकूटाकारं तन्मध्ये ऊर्ध्व शक्तितां परशून्यं ध्यायेत् तत्रैव पूर्णगिरि-पीठं सर्वेच्छासिद्धि साधनं भवति ॥'

अर्थात्—आठवें आज्ञाचक्र को ही ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं, उसका परिमाण सुई की नोंक के समान है। वहाँ धूम्रशिखा रूप चिंतन करे। वहीं जालन्धरपीठ है, जिसकी उपासना से मोक्ष प्राप्त होती है, इसीलिए उसे परब्रह्म चक्र कहते हैं। (उससे ऊपर) नौवाँ चक्र आकाश चक्र है, उसमें ऊपर की ओर मुख वाला सोलहदल का कमल है, उसकी मध्य कर्णिका तीनों गुणों को उत्पन्न करने वाली होने से तीन शिखरों वाले पर्वत के आकार की होती है, उसके मध्य में ऊपर की ओर उठी हुई-सी जो शक्ति स्थित है, उसका परम शून्य रूप से ध्यान करे। वही पूर्ण गिरि-पीठ है, जिसकी उपासना से सब कामनाओं की सिद्धि होती है।

उक्त उदाहरण से ब्रह्म के सिर पर आकाश की स्थापना का रहस्य भले प्रकार समझ में आजाता है और यही रहस्य शिव द्वारा अशोक वृक्ष से ईर्ष्या करने और भगवती द्वारा अपने ऊपर पद-प्रहार कराने की स्पृहा रखने का है।

मृषा कृत्वा गोत्रस्खलनमथ वैलक्ष्यनमितं
ललाटे भर्तारं चरणकमले ताडयति ते ।
चिरादन्तःशल्यं दहनकृतमुन्मूलितवता
तुलाकोटिक्वाणैःकिलिकिलितमीशानरिपुणा ॥४५॥

टीका—तुम्हारे गोत्र का अपमान करने के कारण लज्जा से नीचे की ओर मुख किये हुए भर्तार के ललाट पर तुम्हारे चरण कमलों द्वारा ताड़न होने से अपने अपकार का प्रतिशोध हुआ देखकर, शिव द्वारा भस्म कियेजाने से होते हुए चिरकालिक अन्तर्दाह को प्रकट करते हुए कामदेव ने तुम्हारे नूपुरों की झंकार रूपी किलकिलाहट भरी हर्ष ध्वनि से सन्तोष प्रकट किया ।४५।

व्याख्या—शिव के ललाट पर भगवती के चरण-कमलों द्वारा ताड़न करने का रहस्य पूर्व श्लोक के भाष्य में बता चुके हैं। अब भगवती के चरणों द्वारा शिव के ललाट के ताड़न से कामदेव के प्रसन्न होने वालीउक्ति पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

पुराणों की कथा के अनुसार शिव ने कामदेव को भस्म कर दिया था, फिर भी वह अनंग रूप से जीवित रह कर भगवती की सेवा में लगा रहा। जब भगवती ने शिव के मस्तक पर पद-प्रहार किया तब उसके मन की प्रतिशोध-भावना पूरी होगई और वह प्रसन्नता से किलकारियाँ भरने लगा। इसका अभिप्राय यह है कि शिव ने अपने क्रोध से जिस प्रजनन-कर्म को रोक दिया था, भगवती ने अपनी इच्छा से उसका पुनरारम्भ कर दिया। इससे कामदेव का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है। क्योंकि भगवती ने इस प्रकार शिव के मस्तक पर चरण-प्रहार

करके अपना कामरूप (सृजन का स्वरूप)प्रकट किया। इसीलिए त्रिपुरोपनिषत् में 'कामीकलां कामरूपां चिकित्वा नरोजायते कामरूपश्च काम्यः' कह कर भगवती को कामकला कामरूपिणी और काम्योपासकों की कामनापूर्ति करने वाली कहा है। बह्वृचोपनिषत् में भी सैव जगदण्डमसृजत, कामकलेति विज्ञायते' अर्थात् उसी को जगत् का सृजन करने वाली कामकला के नाम से प्रसिद्ध कहा है।

ललाट पर भगवती के पद-प्रहार का एक अर्थ पुरुष में काम वासना जागृत करना भी है। नारी के वासनामय स्वरूप का स्पर्श ही पुरुष के मस्तिष्क पर ऐसा प्रभाव डालता है कि वह काम से पीड़ित हो उठता है। वह प्रभाव ही ललाट पर लात मार देने के समान है, जिसके कारण हर्ष की उत्पत्ति होती है।

कुछ विद्वानों के मत में रुद्र अग्नि का ही नाम है, वही 'ईशान' शब्द से सम्बोधित होता है। शतपथ ब्राह्मण में रुद्र की उत्पत्ति के पश्चात् रुद्र से भिन्न अन्य नाम देते हुए प्रजापति ने 'सर्वोऽसीति' इत्यादि कह कर रुद्र को सर्व, ज्यायान्, पशुपति, उग्र,अशनि, भव, महादेव और ईशान नाम दिये और फिर कहा कि 'सोऽयं कुमारो रूपाण्यनु प्राविशात्। न वा अग्नि कुमारमिव पश्यति। एतान्मेवास्य रूपाणि पश्यन्ति। एतानि हि रूपाण्यनु प्राविशत्।' अर्थात् 'जो यह कुमार रूप अग्नि है वह सभी रूपों में अनुप्रविष्ट है। इस कुमार को कोई भी नहीं देख सकता, इन्हीं रूपों को देखता है, यह इन्हीं रूपों में प्रविष्ट है।' अग्नि का जब प्राकट्य होता है, तव उसे काष्ठ के घर्षण की आवश्यकता होती है। आधुनिक काल में भी दियासलाई की रगड़ से ही अग्नि उत्पन्न होती है। इस प्रकार अग्नि का प्राकट्य स्वतन्त्र रूप से

नहीं वरन् अपनी शक्ति के क्रियाशील रहने पर ही संभव है और कामदेव के हर्षित होने का भी यही रहस्य समझना चाहिए।

हिमानीहन्तव्यं हिमगिरिनिवसैक चतुरौ
निशायां निद्राणं निशि च परभागे च विशदौ।
परं लक्ष्मी पात्रं श्रियमतिसृजन्तौ समयिनां
सरोजं त्वत्पादौ जननि जयतश्चित्रमिह किम् ॥४६॥ 81

टीका—हे जननि ! तुम्हारे चरणद्वय कमल को पराजित कर रहे हैं तो इसमें विस्मय की बात ही क्या है ? क्योंकि कमल तो हिम से नष्ट होजाता है, जबकि तुम्हारे चरण हिमगिरि पर निवास करने में अभ्यस्त हैं। कमल तो रात्रि में निद्रा के वशीभूत होजाता (मुर्झा जाता,) है, जबकि तुम्हारे चरण दिन हो या रात्रि सब समय विशद रहते हैं। कमल दिन में लक्ष्मी का पात्र रहता है, परन्तु तुम्हारे चरण कमल अपने उपासकों को सदा लक्ष्मी (धन) का प्रदान करते रहते हैं ॥४६॥

व्याख्या—भगवती के चरणों की कान्ति के सामने कमल की भी कान्ति फीकी है। कमल-पुष्प को बरफ पर रख दें तो वह शीघ्र ही नष्ट होजायगा, जबकि भगवती का तो निवास ही बरफ से परिपूर्ण हिमालय पर है। कमल रात्रि में मुर्झा जाता हैं, परन्तु तुम तो सब समय ही जागती रहती हो, कमल लक्ष्मी के हाथों में रहता है अथवा आसन रूप से, परन्तु तुम्हारे चरण-कमल उपासकों के लिए सदा धन प्रदान करते रहते हैं। सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत् में निम्न ध्यान बताया है—

अमलकमलसंस्था तद्रज: पुञ्जवर्णा
करकमलधृतेष्टाभीति युग्माम्बुजा च ।
मणिमुकुट विचित्रालंकृताकल्पजालै:
सकलभुवनमाता संततं श्री: श्रियै न: ।।

अर्थात्—अरुणवर्ण के कमल दल पर विराजमान, कमल-पराग की राशि के समान पीतरंग वाली, वरमुद्रा, अभयमुद्रा और हाथों में कमल-पुष्प धारण करने वाली, मणिमय कंकणों से अलंकृत, सब लोकों की माता महालक्ष्मी हमें निरन्तर श्री से सम्पन्न करती रहें ।

'भोग्यमजीजनत्, सर्वमजीजनत्' (बह्वृच०) अर्थात् 'उन्हीं से सब भोग-सामग्री हुई और उन्हीं से सब कुछ रचा गया' इत्यादि से यही सिद्ध होता हैकि भगवती अपने गतिशील चरणों के द्वारा उपासकों के पास जाकर उन्हें इच्छित भोग-सामग्री अथवा काम्य धन प्रदान किया करती हैं ।

पदं ते कीर्तीनां प्रपदमपदं देवि विपदां
कथं नीतं सद्भि: कठिनकमठीखर्परतुलाम् ।
कथंचिद्बाहुभ्यामुपयमनकाले पुरभिदा
यदादाय न्यस्तं दृषदि दयमानेन मनसा ।।४७।।

टीका—हे देवि ! तुम्हारा पद कीर्तियों का भंडार और विपत्तियों का अपद (अस्थान) है । *पता नहीं कि सज्जनों ने* उसकी तुलना कछुए की कठोर खोपड़ी से क्यों की है ? क्योंकि वह पद तो इतना मृदु है कि उसे तुम्हारा पाणिग्रहण करते समय शिवजी ने दयापूर्ण हृदय से अपने दोनों हाथों से उठाकर पाषाण पर रख दिया था ।।४७।।

व्याख्या—भगवती के चरणों में विपत्तियाँ तो हैं ही नहीं, वहाँ तो कीर्ति और सुयश ही भरा पड़ा है। यद्यपि उनके चरण अत्यन्त कोमल हैं, फिर भी दुष्टों को दण्ड देने में समर्थ होने के कारण वह अत्यन्त कठोर प्रतीत होते हैं। 'कथं चिद्बाहुभ्याम्' इत्यादि से उस पद्धति की ओर संकेत है जिसमें विवाह के समय वधु के एक पाँव को उठाकर वर पत्थर पर रखा करता है। जिसका अभिप्राय यह होता है कि वधु धर्म-पालन के लिए अपने चित्त को पत्थर के समान दृढ़ रखे।

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टु तैतु॥

—देव्युपनिषत् १०

अर्थात्—देवताओं द्वारा उत्पन्न वाणी का विविध प्राणी उच्चारण करते हैं। वे कामधेनु के समान सुखदायिनी एवं अन्न-बल के देने वाली वाणी रूपा भगवती हमारी श्रेष्ठ स्तुति से सन्तुष्ट होकर हमारे निकट आवें।

इस प्रकार भगवती का चरण गतिशील होने के कारण साधकों के पास जाकर उन्हें सर्वधन और कीर्ति प्रदान किया करता है।

नखैर्नाकस्त्रोणां करकमलसंकोचशशिभि-
स्तरूणां दिव्यानांहसतइव ते चण्डि चरणौ।
फलानि स्वःस्थेभ्यः किसलयकराग्रेण ददतां
दरिद्रेभ्यो भद्रां श्रियमनिशमह्नाय ददतौ ॥४८॥

टीका—हे चण्डिके ! तुम्हारे दोनों चरणों के नखों से कल्पवृक्षों की हँसी-सी होरही है। वे नख देवांगनाओं के कर-कमलों

को बन्द करने के लिए दस चन्द्रमाओं के समान प्रतीत होते हैं। कल्पवृक्ष तो अपने किसलयरूपी कराग्रों से स्वर्गवासी देवताओं को ही फल प्रदान करते हैं, परन्तु तुम्हारे चरण प्रत्येक समय तुरन्त ही दरिद्र पुरुषों को इच्छित कल्याण और धन प्रदान करते रहते हैं ॥४८॥

व्याख्या—भगवती के दोनों चरणों में जो दस नख हैं वे दस चन्द्रमाओं के समान हैं। उनकी कान्ति कल्पवृक्षों को भी फीके कर रही है। वह कल्पवृक्ष तो स्वर्ग में निवास करने वालों के लिए ही फलदायक है, परन्तु भगवती के चरण तो धनहीनों के लिए सर्वत्र धन देने वाले होते हैं। सीतोपनिषत् के अनुसार—

सोमात्मिका ओषधीनां प्रभवति कल्पवृक्ष पुष्पफललता गुल्मात्मिका ओषधभेषजात्मिका अमृतरूपा देवानां महस्तोमफलप्रदा अमृतेन तृप्ति जनयन्ती देवानामन्नेन पशूनां तृणेन तत्तज्जीवानाम्।

अर्थात्—भगवती चन्द्ररूपिणी होकर औषधियों को पुष्ट करती हैं। वे कल्पवृक्ष, लता, गुल्म, पुष्प, पत्र, फल और औषधि महौषधियों के स्वरूप को प्रकट करती हैं। उसी रूप में देवताओं को 'महस्तोम' यज्ञ का फल देती हैं और अन्न द्वारा प्राणियों को तथा अमृत द्वारा देवताओं को तृप्त करती हैं।

ददाने दीनेभ्यः श्रियमनिशमाशाऽनुसदृशी-
ममन्दं सौन्दर्य प्रकरमकरन्दं विकिरति।
तवास्मिन्मन्दारस्तवक सुभगे यातु चरणे
निमज्जन्मज्जीवः करणचरणः षट्चरणताम्॥४९॥ 90

टीका—तुम्हारे चरण में मन्दार-पुष्पों के स्तवक के समान जो कमल है, वह दीन पुरुषों को उनकी आशा के अनुसार ही धन प्रदान करता रहता है। सौन्दर्य-मकरन्द को विकसित करने

वाले उस स्तवक में मेरा छः चरणों (पंच ज्ञानेन्द्रिय और एक अन्तःकरण) वाला आत्मा (मधुकर के समान) निमग्न रहा आवे ॥४६॥

व्याख्या—भगवती के चरण-कमलों की बनावट मन्दार-पुष्प के गुलदस्ते के समान हैं। वे चरण दीनजनों को इच्छित धन दिया करते हैं। साधक प्रार्थना करता है कि भगवती के उन्हीं चरण-कमलों में मेरी सब इन्द्रियों और मन के व्यापार समर्पित रहें।

शरीर के छः चरण माने गए हैं। पांच ज्ञानेन्द्रिय और एक अन्तःकरण ही वे छः चरण हैं। षट्पद का अर्थ भौंरा भी है। जैसे भौंरा कमल के लिए अपना तन-मन सभी कुछ अर्पण कर देता है, वैसे ही साधक भी अपना तन-मन युक्त सर्वस्व भगवती के चरण-कमल में अर्पण कर देने की कामना करे तो उसके लिए श्रेयस्कर है।

भगवती अपने उपासक को सदैव चरण कमलों में शरण देती है, इसीलिए साधकगण उन्हें 'शरण्या' कहा करते हैं। वे इच्छित फल प्रदान करने में समर्थ हैं। इसीलिए 'भुक्तिमुक्ति-प्रदायिनी' कही जाती हैं। अर्थात् भोग चाहने वाले साधक को भोग और मोक्ष की कामना वाले को मोक्ष प्रदान करना भगवती का स्वभाव है : नहीं नहीं देवी अपने भक्त को भोग और मोक्ष दोनो प्रदान करती है ×.

पदन्यासक्रीडापरिचयमिवारब्धुमनस-
श्चरन्तस्ते खेलं भवनकलहंसा न जहति।
अतस्तेषां शिक्षां सुभगमणिमंजीररणित-
च्छलादाचक्षाणं चरणकमलं चारुचरिते ॥५०॥

टीका—हे सुन्दर चरित्र वाली! तुम्हारे चलते समय की पदन्यास-क्रीड़ा को जानने के लिए तुम्हारे भवनमें विचरण करने

× श्रीसुन्दरी तत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव
× न तत्र भोगो

वाले राजहंस उसी का अभ्यास करते रहते हैं, उनको तुम्हारी गति के पीछे-पीछे चलने में तुम्हारे चरण कमलों में धारण किये हुए मणिमय नूपुरों की झंकार ही शिक्षा देने वाली सिद्ध होती है ॥५०॥

व्याख्या—भगवती की गति ऐसी है, कि उसकी इच्छा करते हुए राजहंस भी उनके पीछे-पीछे चलते हुए उसे सीखते हैं। शृंगार-रस के कवियों ने स्त्री की चाल को 'हंसगामिनी' कह कर हंस की चाल से उपमित किया है, परन्तु यहाँ हंसों को भी भगवती से चाल सीखने की उत्कण्ठा दिखा कर यह सिद्ध किया है कि भगवती की गति की समानता कोई भी नहीं कर सकता।

गति का अर्थ ज्ञान अथवा विद्या है। भगवती के पदान्यास में वह विद्या निहित है, जिसे जानने वाला ज्ञानी संसार-सागर से मुक्त होजाता है। 'हंसविद्यामृते लोके नास्ति नित्यत्वसाधनम्' (ब्र. वि. उ.) अर्थात् 'हंसरूपी विद्यामृत के समान नित्यत्व का कोई अन्य साधन संसार में नहीं है।' क्योंकि उसी से ब्रह्म का निर्णय होता है—

शुद्धज्ञानामृतं प्राप्य परमाक्षर निर्णयम्।
गुह्याद्गुह्यतमं गोप्यं ग्रहणीयं प्रयत्नतः॥

—ब्रह्मविद्या उ० ४६

अर्थात्—शुद्ध ज्ञानामृत को प्राप्त करके परम अक्षर तत्व का निर्णय करे और उस गुह्य अर्थात् गोपनीयतम को प्रयत्न पूर्वक ग्रहण करे।

भगवती की गति सर्वत्र समान है और 'लक्ष्यं सर्वगतं चैव शर: सर्वगतो मुख' इत्यादि (रु० हृ० उ०) अर्थात् 'ब्रह्मरूप लक्ष्य सर्वगत है और आत्मा भी सर्वतोमुख है, परन्तु यदि साधक भी सर्वगत हो तो उसे शिवरूप लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य हो सकती है। अब प्रश्न यह है कि साधक सर्वगत किस प्रकार से हो ? क्योंकि उसकी बुद्धि पर तो अज्ञान का आवरण पड़ा हुआ है ? इसी का समाधान इस श्लोक में है कि भगवती के चरणों की आराधना करके उनसे सर्वगत होने की शिक्षा प्राप्त की जा सकती है।

गतास्ते मञ्चत्वं द्रुहिणहरिरुद्रेश्वरभृत:
शिव: स्वच्छच्छाया घटितकपटप्रच्छदपट: ।
त्वदीयानां भासां प्रतिफलनरागारुणतया
शरीरीश्रृंगारो रस इव दृशां दोग्धिकुतुकम् ॥५१॥

टीका—ब्रह्मा, हरि, रुद्र और ईश्वर द्वारा रक्षित तुम्हारे मंच के चार पाये हैं। उस मंच पर जो स्वच्छ चादर बिछी है वह छाया-निर्मित कपट-माया के रूप में साक्षात् शिव ही हैं। वह तुम्हारी कान्ति के कारण अरुण दिखाई देता हुआ ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि कौतुक उत्पन्न करने के लिए स्वयं श्रृंगाररस ने ही शरीर धारण,कर लिया हो ॥५१॥

व्याख्या—भगवती के सिंहासन के जो चार पाये हैं, वे उन का अभिप्राय त्रिदेव और चौथे ब्रह्म से है। आत्मा के चार स्थान विशेष रूप से माने गए हैं—नाभि, हृदय, कण्ठ और ब्रह्मरन्ध्र इनमें चार चरण वाला परमब्रह्म प्रकाशित होता है। आत्मा की चार अवस्थाएँ हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। उनमें

'जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरम्। स आदित्यो विष्णुश्चेश्वरश्च स्वयममनस्कमश्रोत्रमपाणिपादं ज्योतिर्विदितम्।' (ब्रह्मोपनिषत्) अर्थात् 'जाग्रत् में ब्रह्मरूप से स्वप्न में विष्णुरूप से, सुषुप्ति से रुद्ररूप से और तुरीय में अक्षर अर्थात् शिव रूप से प्रकाशमान होता है। यह आत्मा स्वयं मन, इन्द्रिय, हाथ, पाँव आदि से रहित और प्रकाशमान माना जाता है। इसमें मनुष्य शरीर को भगवती का मंच और नाभि, हृदय, कण्ठ और ब्रह्मरन्ध्र रूपी अवयवों को उसके पाये कह सकते हैं। उस मंच में विराजमान कुण्डलिनी शक्ति ही भगवती रूप से अभिप्रेत है। क्योंकि त्रिदेव तो शुद्ध विद्या में आते हैं और जीव माया में तथा शरीर अशुद्ध विद्या में आता है। उस अशुद्ध विद्या को स्वरूप को कुण्डलिनी जाग्रत् होकर ही सब तत्वों को शुद्ध करती हुई विशुद्ध चक्र में जा विराजती है।

भगवती का मंच श्रीचक्र भी हो सकता है। उसके वायव्य कोण में ब्रह्मा, नैऋत्य कोण में विष्णु, आग्नेय कोण में रुद्र और ईशान कोण में ईश्वर मानना चाहिए। वह कोण मानो आकाश रूपी स्फटिक से निर्मित और शिव रूपी आवरण से वेष्टित है। उस पर जो अरुणिमा दिखाई देती है, वही अरुणा संज्ञक शक्ति है।

भगवती का मंच चार पायों का होने विषयक एक अभिप्राय यह भी है कि वाणी के चार पाद माने गए हैं। 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ते मनीषिणः' अर्थात् 'परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, इन चार पदों वाली वाणी को ज्ञानीजन ही भले प्रकार जानते हैं।' इस प्रकार चार पायों वाले वाणी रूपी मंच पर विराजमान हुई भगवती ब्रह्मज्ञान का उप-

देश करती हैं। मुमुक्षुजनों को उस उपदेश को ग्रहण करके ब्रह्म-प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।

अराला केशेषु प्रकृतिसरला मन्दहसिते
शिरीषाभा गात्रे दृषदिव कठोरा कुचतटे।
भृशंतन्वी मध्ये पृथुरपि वरारोहविषये
जगत्त्रातुं शंभोर्जयति करुणा काचिदरुणा ॥५२॥

टीका—शम्भु की जिस करुणा की सर्वत्र जयजयकार हो रही है, वह विश्व की रक्षा के निमित्त काचिदरुणा है। उन अरुणा देवी के केश स्वाभाविक रूप से ही अराल (घुँघराले) हैं और उनके मुख पर सरल मन्द हास है। गात्र शिरीष की आभायुक्त, और पाषाण के समान कुचतट है तथा कटिभाग कृश होने से वे तन्वी हैं और नितम्बों में अधिक स्थूलता है ॥५२॥

व्याख्या—भगवती का एक नाम अरुणा भी है, वह इसलिए कि उनका अरुण वर्ण है। 'प्रातः सूर्य समप्रभाम्' अर्थात् प्रातः कालीन (उगते हुए) सूर्य के समान प्रभा वाली हैं। वह प्रभा अरुण वर्ण की होती है, इसीलिए उगते हुए सूर्य को अरुणोदय कहते हैं। काचित् का अर्थ काँच के समान स्वच्छ होने से काचिदरुणा का अभिप्राय स्वच्छ अरुणिमा से है। इसलिए भगवती को स्वच्छ आभा वाली कहना भी उपयुक्त है।

भगवती करुणामयी है, इसलिए उन्हें 'करुणा' कहा गया है, इसमें जो 'ककार' है वह कामेश बीज का द्योतक है, इससे समझना चाहिए कि 'करुणा' नाम से भगवती का काम्यफल प्रदायक स्वरूप प्रकट होता है। इसीलिए देव्युपनिषत् में उन्हें 'महाकारुण्यरूपिणीम्' कह कर करुणा की मूर्ति बताया है।

करुणा का अर्थ दया भी है। जहाँ दया है वहाँ सभी कामनाओं और अभयों का निवास होना असंभव नहीं। भगवती को महाभयविनाशिनी (देव्यु०) कहकर इसी स्वरूप का परिचय दिया गया है।

'अराला केशेषु' पद से केशों की कुटिलता का संकेत करके ग्रन्थकार ने यह व्यक्त किया है कि कुटिलता का स्थान अन्धकार में है। अन्धकार से तात्पर्य अज्ञान हो सकता है। जहाँ अज्ञान है, वहीं कुटिलता संभव है, ज्ञान में कुटिलता की संभावना नहीं, सरलता ही रहती है।

फिर भी वह कुटिलता भगवती के पृष्ठ भाग में रहती है, क्योंकि केश पीछे की ओर लटकते हैं। मुख पर तो कुटिलता का कोई प्रश्न ही नहीं, वह तो अरुण अथवा शिरीष की आभा के समान है, वहाँ तो सरलता और स्वच्छता ही है। शिरीष के वृक्ष को लोक में कल्याणप्रद मानते हैं। इसलिए भगवती के शरीर को कल्याणकारी मान कर 'शिरीषाभा गात्रे' पद का प्रयोग हुआ है।

'प्रकृति सरला मन्द हसिते' पद भी इसी की पुष्टि करता है कि भगवती के स्वभाव में ही सरलता है, कुटिलता नहीं। मन्द हास उनके चित्त की प्रसन्नता का सूचक है। सीतोपनिषत् में 'प्रथमा शब्दब्रह्ममयी स्वाध्यायकाले प्रसन्ना' कह कर स्पष्ट किया है कि 'वे (तीन रूप वाली भगवती) अपने प्रथम रूप में ब्रह्म शब्द से युक्त हुई प्रसन्न होकर बुद्धिरूप से बोध प्रदान करने वाली हैं।

पाषाण के समान कठोर कुच कह कर ग्रन्थकार ने उनमें दुग्ध की अधिकता और पुष्टि को व्यक्त किया है। क्योंकि वे

संसार का पोषण करने वाली हैं। तन्वंगी आदि के कथन से नारी के सरल सौन्दर्य का चित्रण हुआ समझना चाहिए। जहाँ सरल सौन्दर्य है, वहीं निर्दोष मातृत्व है। और भगवती जगत् की माता हैं, इसलिए उनमें इन दोनों का रहना अत्यन्त आवश्यक है।

इस सबसे यही सिद्ध होता है कि नारी-सौन्दर्य में मातृत्व भाव का समावेश करके भगवती की उपासना करना श्रेयस्कर है।

समानीतः पद्भ्यां मणिमुकुरतामम्बरमणि-
र्भयादास्यादन्तः स्तिमितकिरणश्रेणिमसृणः ।
दधाति त्वद्वक्त्र प्रतिफलनमश्रान्तविकचं
निरातंकं चन्द्रान्निजहृदयपंकेरुहमिव ॥५३॥

टीका—तुम्हारे चरणों के समीप होने के कारण सूर्य दर्पण बना हुआ है, जिसने तुम्हारे मुख के भय से भीत होकर अपनी किरण-श्रेणी को भीतर ही छिपा रखा है, इसीलिए उसमें स्वच्छता होने के कारण तुम्हारे मुख का प्रतिबिम्ब भी उसके हृदय-कमल के समान खिला हुआ है और उसे चन्द्रमा का तो कोई भय है ही नहीं ॥५३॥

व्याख्या—अम्बरमणि का अभिप्राय सूर्य से है, सामान्य दर्पण में भगवती का मुख कमल प्रतिबिम्बित होना संभव नहीं है। सूर्य रूपी वह दर्पण भगवती के चरणों के पास रहता है। इसका अभिप्राय यह हो सकता है कि सूर्य मण्डल का स्थान अनाहत चक्र है, यह मणिपूर चक्र के ऊपर हृदय में स्थित रहता है। यही चक्र शब्द ब्रह्म अर्थात् ओंकार का भी स्थान रहता है।

इस चक्र में बारह दल का कमल होता है, जिसका प्रत्येक दल आदित्य है अथवा यों कहना चाहिए। कि वह समूचा कमल द्वादश आदित्य रूप है, इसीलिए उस चक्र को सूर्य-मण्डल का स्थान मानते हैं।

भगवती का मुख-कमल खिले हुए हृदय कमल के समान कह कर ग्रन्थकार ने यह व्यक्त किया है कि भगवती का वास साधक के हृदय में है, वहीं सूर्य मण्डल है, जो भगवती के चरणों के निकट स्थित रह कर उनके लिए दर्पण का कार्य करता है। अर्थात् भगवती उसमें अपने को प्रतिबिम्बित करके सूर्य को तेजस्विता प्रदान करती हैं अथवा यह समझना चाहिए कि सूर्य में जो महान तेज है, वह उनका अपना नहीं, वरन् भगवती-प्रदत्त है और सूर्य उस तेज से जो लोकोपकार करते हैं, उसका कारण भगवती की इच्छा और प्रेरणा ही है। क्योंकि भगवती स्वयं कहती हैं कि 'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः' (देव्युपनिषत्) अर्थात् 'मैं ही रुद्रों, वसुओं, आदित्यों और विश्वेदेवों के रूप में संचार करती रहती हूं।

किरण-श्रेणियों को अपने भीतर छिपा लेने' का भी यही अभिप्राय है कि सूय की किरणे भगवती के संकेत पर ही गतिवती होती हैं। जब वे चाहती है तभी किरणों का प्राकट्य होता है। जब किरणें छिपी रहती हैं, तब सूर्य में न तेजस्विता होती है, न प्रकाश ही होता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि सूर्य में तेजस्विता और प्रकाश भगवती की ही देन है।

'यद्भासा भासते विश्वं सैका दुर्गा जगन्मयी' अर्थात् जिसके प्रकाश से यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होरहा है, वह जगत्-व्यापी दुर्गातत्व है। यह शास्त्र-कथन भी भगवती की महती तेजस्विता

प्रकट करता हुआ सूर्यरूप से प्रकाश देने वाले तत्व को प्रेरित करने वाला ही सिद्ध करता है।

जहाँ सूर्य जैसी परम ज्योति को भी भगवती प्रकाश देती हैं, तब चन्द्रमा की तो बात ही क्या है ? 'निरातंकं चन्द्रान्' अर्थात् चन्द्रमा का भय न होने का कथन इसी बात को सूचित करता है कि जब सूर्य ही भगवती के संकेत पर नाचता है, तब बेचारे चन्द्रमा की क्या बिसात ? क्योंकि चन्द्रमा तो उन्हीं के आश्रय में रहने वाला एक सामान्य तत्व है। भगवती ने स्वयं ही कहा है कि 'अहं सोमं त्वष्टारं पूषणं भगं दधाम्यहम्' (देव्युपनिषत्) अर्थात् 'चन्द्रमा, त्वष्टा, पूषा और भग देवताओं को मैं ही धारण करती हैं।' इस सब से यही सिद्ध हुआ कि भगवती ही सर्वोत्कृष्ट हैं, इसलिए साधक को उन्हीं की साधना करने से मोक्ष प्राप्त हो सकती है।

कलंकः कस्तूरी रजनिकरबिम्बं जलमयं
कलाभिः कर्पूरैर्मरकतकरण्डं निविडतम्।
अतस्त्वद्भोगेन प्रतिदिनमिदं रिक्तकुहरं
विधिर्भूयो भूयो निविडयति नूनं तव कृते ॥५४॥

टीका—चन्द्रमा का बिम्ब मरकत मणि से निर्मित एक गोल डब्बे के समान है, जिसमें काला धब्बा कस्तूरी के रंग जैसा और कलाएँ कर्पूर जैसी हैं। उन दोनों को जल-योग से पीस कर तुम्हारे उपयोगार्थ उस डब्बे में भर कर रख दिया है। उसमें से प्रतिदिन जितना भी व्यय होता रहता है, उसे ब्रह्मा बार-बार नवीन रूप में भरते रहते हैं ॥५४॥

व्याख्या—श्लोक में चन्द्रबिम्ब को मरकत मणि से बना डब्बा कह कर श्रृंगारदान होना सिद्ध किया है। उसमें जो जो काला धब्बा-सा दिखाई देता है, वही मानों उनके अंगराग के लिए कस्तूरी और चन्द्रमा की कलाएँ कर्पूर है। इसका अभिप्राय यह है कि भगवती जिन दो रूपों को धारण करती हैं, उनमें कृष्णपक्ष से रात्रि और शुक्लपक्ष से दिवस का बोध होता है।

इस प्रकार दिवस-रात्रि दोनों ही भगवती के श्रृंगार के साधन हैं। चन्द्रमा के काले धब्बे तमोगुण के प्रतीक हैं। भगवती दुष्टों का दमन करने के लिए तत्पर होती हैं तब उस कृष्णवर्णा कस्तूरी से अपने को आवृत्त कर लेती हैं। वही उनका काली स्वरूप हैं। काली शतनाम में कहा है—

काली कपालिनी कान्ता कामदा कामसुन्दरी।
कालरात्रिः कालिका च कालभैरव पूजिता॥

इससे काली का कामदायिनी और कालरात्रि स्वरूप स्पष्ट होता है। 'कस्तूरिरसनीला' कहने से 'कस्तूरी के रस जैसे नील वर्ण वाली' होना सिद्ध है। भगवती का यह स्वरूप पापियों, दुष्टों का निग्रह और धर्मशील सदाचारियों का श्रेय-साधन करने वाला है।

'कलाभिः कर्पूरैः' इत्यादि से श्वेत रंग का संकेत मिलता है। 'ये स्वरास्ते धवलाः' (अक्षमालिका०) अर्थात् जो स्वर है वह सात्विक होने के कारण धवल (श्वेत) है। इससे समझना चाहिए कि भगवती जब श्वेत वर्ण का श्रृंगार करती हैं, तब उनका स्वरूप सात्विक होता है। और 'सत्त्वप्रधाना प्रकृतिर्मायेति प्रतिपाद्यते' इत्यादि (स. र. उ.) अर्थात् 'सत्वगुण की प्रधानता वाली प्रकृति माया कहलाती है, यही सर्वज्ञ ब्रह्म की

आज्ञाकारिणी उपाधि है। त्रिकाल सन्ध्या में मध्याह्न कालीन सन्ध्या का वर्ण श्वेत होता है, उसका देवता रुद्र है। यथा—

मध्याह्न कालिका सन्ध्या सावित्री युवती श्वेतांगी श्वेत-वासिनी श्वेतगन्धमाल्यानुलेपनी त्रिशूलडमरुहस्ता वृषभारूढा रुद्रदंवत्या यजुर्वेदसहिता आदित्यपथगामिनी भुवोलोके व्यव-स्थिता। (गायत्री र० उ०)

अर्थात्—मध्याह्न काल की सन्ध्या युवती, स्वच्छ श्वेत वर्ण वाली, श्वेत वर्णों को धारण करने वाली,श्वेत चन्दन और श्वेत मालाएँ धारण करने वाली, त्रिशूल और डमरू धारण किये हुए वृषभ पर आरूढ़, रुद्राधिदेवता वाली, यजुर्वेद से युक्त, सूर्यमार्ग में संचरण करने वाली वह भगवती आकाश में स्थित रहती हैं।

इस प्रकार भगवती का यह स्वरूप यजुर्वेद युक्त होने के कारण परमज्ञानात्मक है, जिससे साधक को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होकर मुक्ति होजाती है और फिर वह कभी जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ता।

पुरारातेरन्तः पुरमसि ततस्त्वच्चरणयोः
सपर्यामर्यादा तरलकरणानामसुलभा।
तथा ह्येते नीताः शतमखमुखाःसिद्धिमतुलां 96
तव द्वारोपान्तस्थितिभिरणिमाऽऽद्याभिरमराः॥५५॥

टीका—तुम पुजारी के अन्तःपुर की साम्राज्ञी हो, इसलिए तुम्हारे चरणों की सपर्या-पूजन की मर्यादा चपल चित्त वालों के लिए सुलभ नहीं होती तथा इन्द्र के नेतृत्व में खड़े हुए यह सब देवता तुम्हारे द्वार पर खड़ी हुई अणिमादि सिद्धियों के निकट तक ही पहुँचते है ॥५५॥

व्याख्या—चंचल चित्त वाले साधक भगवती के चरणों का पूजन यथा विधि नहीं कर पाते। उनका चित्त पूजन के समय

भी सांसारिक विषयों की ओर दौड़ने लगता है। इसलिए उनकी साधना फलवती नहीं हो पाती।

अनेक साधक अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त करके ही अपने को सफल समझ लेते हैं और उन सिद्धियों के चमत्कार दिखा कर लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। इस कारण उन्हें सब प्रकार के व्यक्तियों के सम्पर्क में आना पड़ता है और यह निश्चित है कि अधिक व्यक्तियों का सम्पर्क साधक को कामादि में विकारों में फँसा देता है। इस प्रकार-भगवती तक पहुँचने का उनका उद्देश्य अधूरा ही रह जाता है। अर्थात् अणिमादि सिद्धियों से ऊपर उठने पर जिस ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो सकती है, वह उन पथ-भ्रष्ट साधकों को नहीं हो पाती। 'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय:'(योग दर्शन)अर्थात् 'ये सिद्धियाँ समाधि में विघ्न स्वरूप हैं।' इन सिद्धियों से मन को हटा लेने पर दोषों का बीज नाश होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है (तद्वैराग्यादपि दोषबीज क्षये कैवल्यम्'—योग दर्शन) और योगसुधाकर के अनुसार 'यदि तन्नापेक्षास्यात् तदा मोक्षाद् भ्रष्ट: कथं कृतकृत्यताभियात्' अर्थात् 'यदि इन सिद्धियों की आकांक्षा रही तो साधक मोक्षपथ से भ्रष्ट होजायगा, तब उसे लक्ष्य की प्राप्ति कैसे होगी ?'

कलत्र वैधात्रं कतिकति भजन्ते न कवय:
श्रियो देव्या: कोवान भवति पति: कैरपि धनै:।
महादेवं हित्वा तव सत्ति सतीनामचरमे
कुचाभ्यामासंग: कुरवकतरोरप्यसुलभ: ॥५६॥

टीका—विधाता की पत्नी (सरस्वती)का भजन क्या कितने ही कवि नहीं किया करते और ऐसा कौन है जो किंचित्-भो

भजन करके लक्ष्मीपति नहीं बन जाता ? परन्तु हे सति ! तुम तो सतियों में भी श्रेष्ठ हो। तुम्हारे कुचों का संसर्ग तो शिवजी के अतिरिक्त कुरवक तरु के लिए भी सुलभ नहीं है ॥५६॥

व्याख्या—सरस्वती का भजन करके तो सभी इच्छित प्राप्त कर लेते हैं। कवित्व शक्ति चाहने वालों को कवित्य, धन चाहने वालों को धन अथवा अन्य किसी भोग की इच्छा वाले पुरुष को उस भोग की प्राप्ति सरस्वती की साधना से संभव है। परन्तु भगवती के कुचों का संसर्ग अर्थात् भगवती से उनके दुग्ध रूप प्रसाद की प्राप्ति सभी के लिए उपलब्ध नहीं हो सकती।

कुरवक वृक्ष भी भगवती के उद्यान में होते हुए भी भगवती का स्पर्श नहीं प्राप्त कर सकता। वह स्पर्श तो शिवजी को ही प्राप्य है। इसका अभिप्राय यह है कि भगवती को प्रसन्न करने के लिए कठिन साधना आवश्यक है। अन्य शक्तियां शीघ्र प्रसन्न हो सकती हैं, परन्तु प्रमुख शक्ति रूप भगवती उन्हीं पर प्रसन्न होती है जो कि तन-मन से सच्ची उपासना करें। इसी से 'प्रातर्नमामि मनसा' इत्यादि से मनोयोग पूर्वक नमस्कारादि सहित पूजन करने का निर्देश मिलता है। नारदपरिव्राजकोपनिषत् के अनुसार 'जिनके मन-वाणी में पवित्रता है ओर जो सदा निर्दोष हैं, वे मनुष्य ही वेदान्त को सुनकर उसका पूर्ण फल प्राप्त कर सकते हैं।'

गिरामाहुर्देवीं द्रुहिणगृहणीमागमविदो
हरेः पत्नि पद्मां हरसहचरीमद्रितनयाम्।
तुरीया काऽपि त्वं दुरधिगम निःसीममहिमा
महामाया विश्वं भ्रमयसि परब्रह्ममहिषि ॥५७॥

टीका—हे परब्रह्म- महिषि ! आगमों के ज्ञाता ब्रह्म की पत्नी वाग्देवी, हरि की पत्नी पद्मा और हर की पत्नी पार्वती

कहलाती हैं। परन्तु तुम महामाया कोई अन्य ही हो। तुम्हारा जानना बहुत ही कठिन है, क्योंकि तुम्हारी महिमा की कोई सीमा नहीं है और तुमने सम्पूर्ण विश्व को ही भ्रमा रखा है ॥५७॥

व्याख्या—भगवती की महिमा सरस्वती, कमला और उमा से भी अधिक कहने का अभिप्राय उन्हें ब्रह्मात्मिका सिद्ध करना ही है। 'साऽब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी' (देव्युपनिषत्) अर्थात् 'भगवती ने स्वयं ही कहा कि मैं ब्रह्मस्वरूपिणी हूँ' और देवताओं ने भी 'एषाऽऽत्मशक्तिः' कह कर उन्हें परब्रह्म की आत्मशक्ति कहा है। इससे सिद्ध होता है कि भगवती उन त्रिदेवियों से भी उत्कृष्ट शक्ति हैं।

अन्य भावानुसार यह श्लोक कामकला का संकेत करता है। सरस्वती का बीजमन्त्र ऐं, लक्ष्मी का बीज मन्त्र श्री पार्वती का बीज मन्त्र क्लीं और महामाया का बीज मन्त्र ह्रीं है। वाग्भव कूट का तृतीय अक्षर शक्ति वाचक है जो कि वर्णमाला का चतुर्थ अक्षर होने के कारण तुरीयपदात्मक समाधि का प्रतीक समझा जाता है, इसकी स्थिति सभी वीजाक्षरों के अन्त में होती है। शिवात्मक अनुस्वार का शक्ति के साथ सदा रहना माना जाता है, यही कामकला है। देव्युपनिषत् में कामकला को ब्रह्मरूपिणी मूल विद्या माना है। यथा—

कामो योनिः कामकला वज्रपाणि-
गुहा हंसा मातरिश्वाऽभ्रमिन्द्रः।
पुनर्गुहा सकला मायया च
पुरूच्येषा विश्वमाताऽऽदि विद्याम् ॥

अर्थात्—काम, योनि, कामकला, वज्रपाणि, गुहा,वर्ण, वायु अभ्र, सर्वरूप वर्ण और माया यह सब उस जगन्माता की ब्रह्मरूपिणी मूल विद्या है।

समुद्भूतस्थूलस्तनभरमुरश्चारुहसितं
कटाक्षे कन्दर्पो कतिचन कदम्बद्युतिवपु ।
हरस्य त्वद्भ्रान्ति मनसिजनयसिस्मविमला
भवत्या ये भक्ताः परिणतिरमीषामियमुमे ॥५८॥

टीका—हे उमे ! उद्भूत एवं स्थूल स्तनों के भार से सम्पन्न उरुस्थल, मनोरन हँसी और कटाक्ष में कामदेव और कदम्ब की शोभा से युक्त देह यह सभी शिव के मन में तुम्हारी याद दिला कर भ्रम प्रकट करते हैं। क्योंकि तुम्हारे विमल भक्तों में तुम्हारी तद्रूपता की परिणति के कारण वे तुम्हारे समान ही दिखाई देने लगते हैं ॥५८॥

व्याख्या—यद्यपि भगवती के सौन्दर्य का इस प्रकार से वर्णन पहले भी हो चुका है, परन्तु इस श्लोक में भक्त के तद्रूप होने की परिणति से शिव-शिवा के एकाकार का वर्णन किया गया है।

श्लोक का यह भाव भी स्पष्ट है कि भगवती के रूप का सब समय चिन्तन करते रहने वाला साधक भगवती के ही रूप को प्राप्त होजाता है। वास्तव में साधक की यह घटावस्था मानी गई है। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' अर्थात् 'ब्रह्म को जानने वाला स्वयं ही ब्रह्म के समान हो जाता है।' इससे भी साधक का तद्-रूप होजाने की पुष्टि होती है।

'व्यक्तं सर्वमुमारूपमव्यक्तं तु महेश्वरम्' के अनुसार यह सम्पूर्ण प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला जगत् उमारूप ही है। जब ऐसा है तो साधक को उसका ज्ञान होने पर तद्रूपता की प्राप्ति होना स्वाभाविक ही है। शिव पुल्लिग रूप हैं, उनका सृष्टि के एक जीव में स्त्रीलिंग होने का भ्रम बताना साधक का भगवती के तद्रूप होने को ही सिद्ध करता है।

कदा काले मातः कथय कलितालक्तकरसं
पिबेयं विद्यार्थी तव चरणनिर्णेजनजलम् ।
प्रकृत्या मूकानामपि च कविताकारणतया
यदाधत्ते वाणी मुखकमलताम्बूलरसताम् ॥५९॥

टीका–हे माता ! तुम्हारे चरणों का धोवन लाक्षारस अर्थात् महावर से लाल होरहा है, उसके पान करने का समय मुझे कब प्राप्त होगा ? वह चरणोदक सरस्वती के मुख कमल से निकले हुए पान के रस के समान, जन्म-मूक को भी कवित्व-शक्ति प्रदान करने में समर्थ है ॥५९॥

व्याख्या—भगवती के चरणोदक में कवित्व-शक्ति भी भरी हुई है, इसीलिए जन्म का गूँगा साधक भी वाणी को प्राप्त कर के कवि बन सकता है। सरस्वतीरहस्योपनिषत् ने इस विषय में स्पष्ट कहा है—

यः कवित्वं निरातंकं भुक्तिमुक्ती च वांछति ।
सोऽभ्यर्च्यैनांदशश्लोक्यानित्यं स्तौतिसरस्वतीम् ॥

अर्थात्—जो कवित्व, निर्भयता, भोग या मोक्ष की इच्छा करता हो उसे दश श्लोकों से भगवती सरस्वती की स्तुति करते हुए पूजन करना चाहिए।

इस प्रकार श्लोक में भगवती की अर्चना-उपासना का उपदेश देते हुए उनके चरणोदक का पान करना ज्ञान प्राप्ति का कारण बताया गया है। कवित्व की प्राप्ति ज्ञान से ही हो सकती है। यदि कोई अज्ञानी पुरुष काव्य शास्त्रों को कसौटी पर खरी उतरने वाली कविता का सृजन करने लगता है तो इससे यही समझना चाहिए कि उसे भगवती की कृपा से अलौकिक ज्ञान की प्राप्ति होगई है।

महावर के लाल रंग से भगवती की राजसी वृत्ति का आभास मिलता है। 'ये परास्ते रक्ताः' अर्थात् 'जो पर हैं, वह राजस होने के कारण लाल हैं।' भगवती का यह काम्य भोगों को प्रदान करने वाला स्वरूप है। इसका यह भाव भी है कि वे साधक की सभी कामनाओं की पूर्ति करती हैं। उनमें कवित्व शक्ति की कामना भी निहित है।

सरस्वत्या लक्ष्म्या विधिहरिसपत्नोविहरते
रतेः पातिव्रत्यं शिथिलयति रम्येण वपुषा।
चिरञ्जीवन्नेव क्षपितपशुपाशव्यतिकरः
परानन्दाभिख्यं रसयति रसं त्वद्भजनवान् ॥६०॥

टीका—तुम्हारा भजन करने वाला भक्त सरस्वती और लक्ष्मी दोनों से युक्त होने के कारण ब्रह्मा और विष्णु के सपत्नि-ईर्ष्या (सौतिया डाह) का पात्र बना हुआ विहरता है और अपने सुरम्य शरीर से रति के पतिव्रत धर्म में भी शिथिलता उत्पन्न कर देता है। वह भक्त पशु-पाश (भव-बन्धन) के कष्टों को दूर करता और परमानन्द रूपी रस का चिरकाल तक आनन्द लेता हुआ जीवित रहता है ॥६०॥

व्याख्या—श्लोक में एक उपास्य की ही उपासना का संकेत है। जो लोग कभी सरस्वती की उपासना करते हैं और कभी लक्ष्मी की तो उनका मन चंचल रहने के कारण कोई भी उपासना फलवती नहीं रहती। शाट्यायनीयोपनिषत् के अनुसार भी मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। जो मन विषयों में आसक्त होता है, वह बन्धन का और जो विषयों से पराङ्मुख होता है, वह मोक्ष का कारण है।

जीव पशु है, अविद्या के कारण जन्म-मरण के आवागमन वाले चक्र में पड़ा हुआ है। इसी को भव-बन्धन कहते हैं, संसार

के विषय-भोग ही वह पाश है, जिससे मनुष्य निकल नहीं पाता, उस पाश से निकलना तभी संभव है, जबकि उन विषयों को मिथ्या समझ लिया जाय। सभी आशाओं को समाप्त कर दिया जाय। क्योंकि विषयों की आशाओं का त्याग ही मनुष्य को बन्धन से छुड़ाता है इसीलिए उपनिषत् मन को स्वच्छ बनाने का उपदेश करते हैं—

न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले।
सर्वाशासंक्षये चेतः क्षयो मोक्ष इतीष्यते ।।
मोक्षो मेऽस्त्विति चिताऽन्तर्जाताचेदुत्थितं मनः।
मननोत्थे मनस्येष बन्धः सांसारिको दृढः ।।
आत्मन्यतीते सर्वस्मात्सर्वरूपेऽथ वा तते।
को बन्धः कश्च वा मोक्षो निर्मूलं मननं कुरुः ।।

—अन्नपूर्णोपनिषत् २।३३-२५

अर्थात्—मोक्ष न तो आकाश के पृष्ठ पर है, न पृथिवी में है और न पाताल में ही है। सब आशाओं का नाश होने पर चित्त का जो नाश होता है, उसी को मोक्ष कहते हैं। 'मेरी मोक्ष हो' इस विचार के अन्तर में उत्पन्न होने पर मन का उत्थान हो जाता है। परन्तु अन्य प्रकार के विचार उत्पन्न होने और उनमें मन लगने पर संसार का बन्धन दृढ़ होता जाता है। आत्मा सबसे परे सर्व रूप और सर्व व्यापक है तो बन्धन क्या है ? मोक्ष क्या है ? इसलिए मन को ही निर्मल बनाओ।

इस प्रकार वासना-रहित साधक के सभी बन्धन कट जाते हैं और वह मृत्यु-पर्यन्त परमानन्द में लीन रहता है। यथार्थ में साधक की यह अवस्था कुण्डलिनी जागरण से ही होती है। योगकुण्डल्युपनिषत् के अनुसार जाग्रत् हुई कुण्डलिनी जब ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि, रुद्रग्रन्थि और षट्चक्र को भेदन करती हुई सहस्रदल कमल में पहुंच जाती है तब शक्तिरूप हुई शिव से

मिल कर जिस आनन्द को प्राप्त होती है 'सैवावस्था पराज्ञेया सैव निर्वृतिकारणा' अर्थात् 'वही आनन्दावस्था श्रेष्ठ और मोक्ष-दायक होती है।'

निधे नित्यस्मेरे निरवधिगुणे नीतिनिपुणे
निराधाटज्ञाने नियमपरचित्तैकनिलये।
नियत्यानिर्मुक्ते निखिलनिगमान्तस्तुतपदे
निरातंकेनित्येनिगमय ममापिस्तुतिमिमाम् ॥६१॥

टीका—हे नित्य प्रसन्ने! हे निरवधिगुणे! हे नीति-निपुणे! तुम निरतिशय ज्ञान से सम्पन्न और नियम-परायण साधकों के चित्तों में निवास करने वाली हो। तुम नियति से निर्मुक्त हो, तुम्हारे पद की सभी शास्त्र स्तुतियाँ करते है। हे निरातंके! हे नित्ये! मेरी इस स्तुति को भी अपने शास्त्र में स्थान दो।६१।

व्याख्या—भगवती सदा प्रसन्न रहने वाली हैं, उनके गुणों की कोई सीमा नहीं, वह नीति में अत्यन्त निपुण और परमज्ञान से युक्त है। उनका निवास उन्हीं साधकों के चित्तों में होसकता है, जो साधना के नियमों का पालन करते रहें। इसका अभि-प्राय स्पष्ट है कि यम नियमों का पालन न करने वाले साधक के चित्त में भगवती का निवास नहीं होता, इस कारण उस साधक की बुद्धि सांसारिक विषयों में ही लगी रहती है, मोक्ष-प्राप्ति के साधन में नही।

भगवती सर्वगुण सम्पन्ना हैं, सर्व शक्ति सम्पन्ना और ज्ञान-निधाना हैं। प्रकृति से परे होने के कारण सभी शास्त्र उनकी स्तुतियाँ करते हैं। क्योंकि वे कार्य-कारण स्वरूपा हैं देव्युपनिषत् में स्पष्ट कहा है—

'साऽब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगच्छून्यं चाशून्यं च' अर्थात् मैं ब्रह्म स्वरूपिणी हूँ। यह कार्यकारण

रूप, प्रकृति-पुरुषात्मक विश्व मुझसे ही उत्पन्न हुआ है।' स्वयं भगवती का यह कथन ही उक्त श्लोक की पुष्टि करती है।

प्रदीपज्वालाभिर्दिवसकरनीराजनविधिः
सुधासुतेश्चन्द्रोपलजललवैरर्घ्यरचना ।
स्वकीयैरम्भोभिः सलिलनिधिसौहित्यकरणं
त्वदीयाभिर्वाग्भिस्तवजननिवाचांस्तुतिरियम्॥६२॥

टीका—हे जननि ! तुम्हारे द्वारा प्रदत्त वाक्शक्ति के द्वारा की गई इस स्तुति के शब्द दीपक की ज्वालाओं से दिनकर की आरती उतारने या चन्द्रकान्तमणि से स्रवते हुए जल-विन्दुओं से चन्द्रमा को अर्घ्य देने अथवा समुद्र के जल से ही समुद्र का सत्कार करने के समान हैं ॥६२॥

व्याख्या—भगवती से मिली हुई वाणी के द्वारा ही भगवती की स्तुति करना कह कर साधक की असमर्थता और भगवती के सामर्थ्य का दिग्दर्शन कराया गया है। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्दं तुभ्यमेव समर्पयेत्' अर्थात् 'हे गोविन्द तुम्हारी दी हुई वस्तु ही तुम्हारे लिए समर्पित है' यह भाव इ श्लोक में विद्यमान है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य का अपना कुछ भी नहीं है, उसके पास जो कुछ भी है, वह ईश्वर-प्रदत्त है। क्योंकि दीपक की तुच्छ लौ सूर्य के सामने क्या महत्व रखती है ?, वरन् वह तो और भी तेजहीन होजाती है। चन्द्रमा से उत्पन्न चन्द्र-कान्तमणि से अर्घ्य देने पर चन्द्रमा का क्या उपकार हो सकता है ? क्योंकि वह तो चन्द्रमा की ही किरणों के स्पर्श से द्रवित होती है। और समुद्र के जल को ही समुद्र में मिला दे तो उससे समुद्र की क्या वृद्धि हो सकती है ! परन्तु सूर्य, चन्द्र, समुद्र आदि का सत्कार करना होता है, तब दीपक से ही आरती उतारी जाती है, जल से ही अर्घ्य दिया जाता और समुद्र के जल से ही

समुद्र का पूजन किया जा सकता है। बेचारे मनुष्य के पास जब अपना कुछ है ही नहीं तो वह वैसा ही करने के लिए विवश है।

इस प्रकार विवश हुआ साधक भी भगवत-प्रदत्त पूजन-सामग्री के समर्पण द्वारा ही भगवती को प्रसन्न करने में सफल होजाता है और जब वह भगवती को प्राप्त कर लेता है तभी उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा (वेदान्त दर्शन) अर्थात् 'अब ब्रह्म की जिज्ञासा करे' इस सूत्र के अनुसार ब्रह्म की जिज्ञासा करने से पूर्व जिन कार्यों का क॰ना आवश्यक है, उनमें परब्रह्म की परम शक्ति भगवती को प्रसन्न करना भी सम्मिलित है।

इस प्रकार भगवती को प्रसन्न करने से ही ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है और भगवती को प्रसन्न करने का अभिप्राय कुण्डलिनी जागरण और शिव-शक्ति के मिलन से ही है। साधक को योग-साधन द्वारा कुण्डलिनी जागरण का अभ्यास करते हुए ब्रह्म प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।

॥ सौन्दर्य लहरी सम्पूर्ण ॥

भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठतम धर्म ग्रन्थ

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य द्वारा सम्पादित

१-चारों वेद ८ जिल्दों में—

ऋग्वेद ४ खण्ड	३२)	यजुर्वेद १ खण्ड	८)
अथर्व वेद २ खण्ड	१६)	सामवेद १ खण्ड	७)

२-१०८ उपनिषद (३ खण्ड) — २७)

३-षट् दर्शन (६ जिल्दों में)

वेदान्त दर्शन	५)	सांख्य दर्शन	५)
योग दर्शन	५)	वैशेषिक दर्शन	५)
न्याय दर्शन	५)	मीमांसा दर्शन	६)

४-२० स्मृतियां २ खंड — १८)

पुराण

५-शिव (२ खण्ड)	१८)	वायु (२ खण्ड)	१८)
विष्णु (२ खण्ड)	१८)	अग्नि (२ खण्ड)	१८)
मार्कण्डेय (२ खण्ड)	१८)	गरुड़ (२ खण्ड)	१८)
हरिवंश (२ खण्ड)	१८)	भविष्य (२ खण्ड)	१८)
पद्म (२ खण्ड)	१८)	देवीभागवत (२ खंड)	१८)
लिङ्ग (२ खण्ड)	१८)	वामन (२ खण्ड)	१८)
मत्स्य (२ खण्ड)	१८)	ब्रह्मवैवंत (२ खण्ड)	१८)
कूर्म (२ खण्ड)	१८)	ब्रह्म (२ खण्ड)	१८)
स्कन्द (२ खण्ड)	१८)	नारद (२ खण्ड)	१८)
सूर्य (१ खण्ड)	९)	कल्कि (१ खण्ड)	९)

६-विष्णु रहस्य ७)५०
७-शिव रहस्य ७)५०
८-तन्त्रमहाविज्ञान २खण्ड १८)
९-योग वासिष्ठ २ खण्ड २०)
१०-२४ गीता (२ खण्ड) १८)
११-मंत्रमहाविज्ञान ४ खण्ड २८)
१२-उपासना महाविज्ञान ७)५०
१३-हस्तरेखामहाविज्ञान ९)
१४-गृह्य सूत्र संग्रह ९)
१५-वैदिक मंत्र विद्या ७)
१६-छान्दोग्योपनिषद ३)५०
१७-बृहदारण्यकोपनिषद ३)५०
१८-पञ्चदशी १२)७५
१९-ज्ञानेश्वरी गीता ७)५०
२०-पंचतंत्र ६)
२१-मंत्रशक्ति से रोग निवारण ५)७५

संस्कृति संस्थान, ख्वाजाकुतुब, बरेली (उ०प्र०)।